B-2

निर्वाण तन्त्र

सम्पादक

'कुलभूषण' पं० रमादत्त शुक्ल, एम० ए०

प्रकाशक

पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

प्रयाग—६
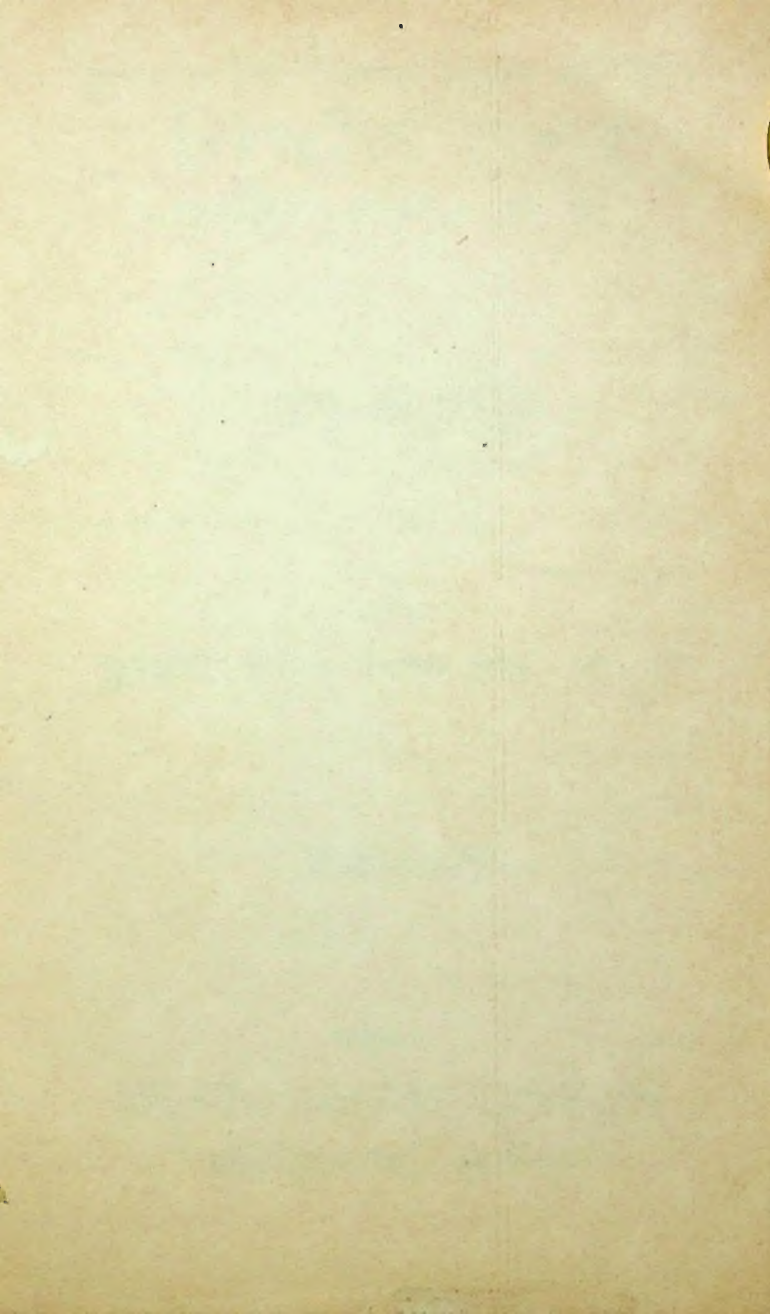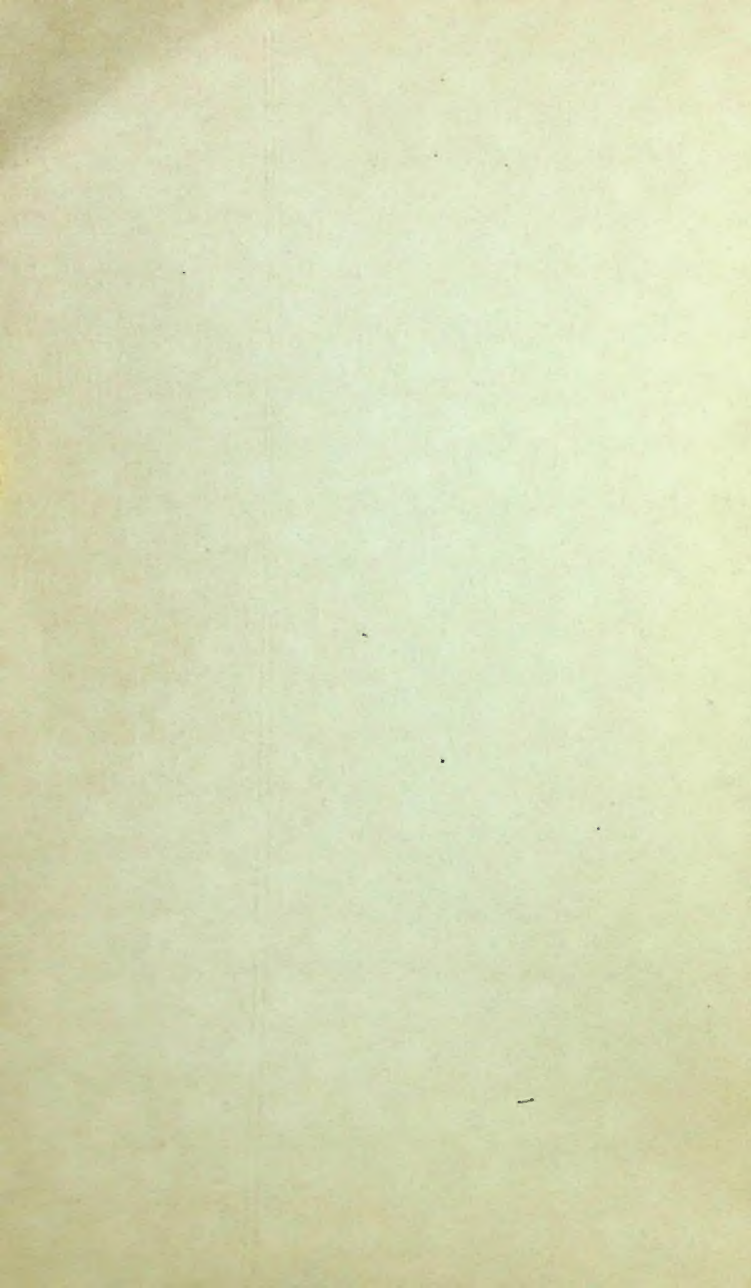
गुप्तावतार दुर्लभ तन्त्रमाला—द्वितीय वर्ष-मणि ३

निर्वाण तन्त्र

(संशोधित व परिवर्धित संस्करण)

सम्पादक

'कुलभूषण' पण्डित रमादत्त शुक्ल, एम० ए०
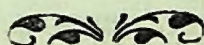
प्रकाशक

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—६

प्रकाशक
कल्याण-मन्दिर प्रकाशन
अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—६

द्वितीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

मूल्य [illegible].०० रु०

प्राप्ति-स्थान
कल्याण मन्दिर प्रकाशन
अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—६

मुद्रक
परा वाणी प्रेस
अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—६

अनुक्रमणिका

२]

परिचय

पहला पटल : परब्रह्म-निरूपण

रमणीय कैलास पर्वत पर चण्डिका ने शङ्कर से पूछा कि 'जो परब्रह्म निराकार, निर्गुण, नित्य, सर्व-कर्त्ता, वर्णातीत, सुनिश्चल, संज्ञा-हीन, शान्त और स्तुति-निन्दा से रहित है, उससे जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ?'

श्री शङ्कर ने उत्तर में वताया कि 'आकाश से वायु उत्पन्न होती है, वायु से सूर्य, सूर्य से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। इस प्रकार पञ्च-भूतों से ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है। ब्रह्माण्ड की स्थापना के लिये कूर्म-पृष्ठ पर अनन्त देव स्थित हैं। उनके सिर पर वालुकाकार वहुत से ब्रह्माण्ड स्थित हैं। करुणा-सागर में कूर्म नित्य रहता है और मैं सदा त्रिशूल से पालन करता हूँ।'

श्री चण्डिका ने पूछा कि 'ब्रह्माण्ड का क्या स्वरूप है और उसमें सृष्टि किस प्रकार की है ?'

श्री शङ्कर ने उत्तर दिया कि 'स्थूल और क्षुद्रादि समस्त जन्तुओं के आकार से युक्त ब्रह्माण्ड नाम-स्वरूपवाला है। उसके मध्य में मेरु पर्वत और सात कुल-पर्वत स्थित हैं। मूल से मस्तक तक सुमेरु नामक पर्वत है। मेरु के अधोभाग में और ऊर्ध्व-देश के दो अंगुल आगे से भू आदि लोक और सात स्वर्ग क्रमशः स्थित हैं। इसी प्रकार सात पाताल हैं। सत्य-लोक में माया से अपने को ढँके हुई, चने के आकारवाली, हाथ-पैर आदि से रहित, चन्द्र-सूर्य और अग्नि-रूपिणी (श्री कालिका) शक्ति है,

जो उन्मुखी होने पर माया के आवरण से अलग होकर दो भागों में प्रकट होती है। इस प्रकार शिव और शक्ति के विभाग से सृष्टि की रचना होती है।

सबसे पहले 'ब्रह्मा' नामक पुत्र उत्पन्न होता है। श्री कालिका ब्रह्मा से कहती हैं कि 'हे महा-वीर! तुम विवाह करो' जिस पर वे कहते हैं कि 'तुम्हीं मेरी जननी हो। तुम मुझे शक्ति प्रदान करो।' इस पर जगन्माता ने अपनी देह से मोहिनी शक्ति को प्रकट किया और कहा कि 'यही दूसरी शक्ति महा-विद्या 'सावित्री' परमा कला है। इसके सहयोग से वेद का विस्तार करो और पृथ्वी पर सहज ही सृष्टि करनेवाले बनो।'

दूसरे पुत्र 'विष्णु' होते हैं, जो सत्व-गुणवाले हैं। उन्हें भी कालिका ने अपनी देह से शक्ति प्रकट कर प्रदान की। इस वैष्णवी महा-विद्या परमेश्वरी श्री विद्या की सहायता से महा-विष्णु सारे जगत् का पालन करते हैं।

तीसरे पुत्र महा-योगी 'सदा-शिव' होते हैं। उन्हें भी कालिका ने अपने देह से शक्ति प्रकट कर प्रदान की। इस भुवन-सुन्दरी के सहयोग से सदा-शिव सारे जगत् का संहार करते हैं।

शम्भु के आठ विभाग हैं और तदनुसार शक्ति भी आठ स्वरूपवाली है। इससे कालिका आदि महा-विद्या है।

दूसरा पटल : सृष्टि-प्रकरण

श्री चण्डिका ने कहा कि 'पृथ्वी पर जिस प्रकार सृष्टि होती है, उसे मैं सुनना चाहती हूँ।'

श्री शिव ने बताया कि 'सत्य-लोक में महा-काली महा-रुद्र के साथ हैं। ये दोनों चने के अनुरूप एक दूसरे से अभिन्न और चन्द्र-सूर्याग्नि जैसे तेजः-स्वरूप हैं। इन्हीं के अंश 'जीव' हैं।

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार महाकाली से निकला हुआ विन्दु भूमि पर गिरते ही शक्तिमान् हो उठता है और स्थावरादि कीटों, पशु-पक्षियों में चौरासी लाख जन्म वह अव्यय लेता है। इनके वाद वह दुर्लभ मनुष्य-शरीर को पाता है क्योंकि मानव शरीर धर्म और अधर्म का स्वामी है। जन्म पाकर वह फिर मृत्यु को पाता है। इस प्रकार फिर कर्म-वन्धन से नियन्त्रित होकर चौरासी लाख विभिन्न योनियों में जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं।'

श्री चण्डिका ने पूछा कि 'कैसे जन्म लेते हैं और कैसे मरते हैं? यह सव मैं ठीक-ठीक सुनना चाहती हूँ।'

श्री शङ्कर ने कहा कि 'इस जगत् में जीव जैसा कर्म करता है, उसी के अनुसार दूसरे लोक में भोगता है। तृण-जलौका के समान जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। उत्तम शरीर को पाकर वह पहले शरीर को छोड़ देता है।'

श्री चण्डिका ने कहा कि 'दूसरे शरीर को पानेवाले के लिये पिण्ड-दानादि किसलिए?'

श्री शिव वोले कि 'वह माया-देह के लिए है। माया-देह वायु-रूपी होती है, जो आकाश में विना आश्रय के रहती है। पिण्ड-दान से वायु स्थिर होती है। पहले मस्तक वनता है और तव यम-पुर में जाकर वह धर्म-अधर्म, जो उसने किया है, उसका फल भोगकर जव कर्म शेष नहीं रहता, वह कर्मानुसार दुर्लभ शरीर को पुनः प्राप्त करता है। भाग्यवश यदि वह सद्-गुरु और महा-विद्या को पा लेता है तथा तत्व-ज्ञान को पा जाता है, तो वह जव तक ब्रह्माण्ड है, परम मोक्ष को प्राप्त करता है। ब्राह्मण को महा-मोक्ष, क्षत्रिय को सायुज्य, वैश्य को सारूप्य और शूद्र को सह-लौकिक (सालोक्य) मुक्ति मिलती है। महा-

विद्या की कृपा से पुनर्जन्म नहीं होता। वृहद् ब्रह्माण्ड का नाश होने पर जव सवका मोक्ष होता है, तव सभी का निर्वाण हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं।'

श्रीचण्डिका ने पूछा कि 'वृहद्-ब्रह्माण्ड के वाहर क्या है ?'

श्री शिव ने वताया कि 'ब्रह्माण्ड के वाहर के भाग में वहुत से ब्रह्माण्ड हैं। अनन्त का क्या प्रमाण कहा जाय! उसी ने सवका निर्माण किया है और वही सव कुछ है।'

तीसरा पटल : गायत्री का क्रम

श्री शिव ने कहा कि 'सभी द्विज 'शाक्त' ही हैं, न वे शैव हैं और न वैष्णव क्योंकि वे परमाक्षरी गायत्री देवी की उपासना करते हैं। 'गायत्री' चारों वेदों द्वारा पूजिता वेद-माता है, जो सभी अभीष्ट फलों को देनेवाली है।

ॐ भूर्भुवः स्वर्महर्जनः तपो सत्यं तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ।

इस मन्त्र का जपनेवाला साक्षात् नारायण-स्वरूप होता है। यह सावित्री-विद्या तीनों लोकों में दुर्लभ है। इसे ग्रहण करते ही व्यक्ति पृथ्वी पर ब्रह्मा-सदृश होता है। इसके षडङ्ग-न्यास निम्न प्रकार करे—

१—ॐ ॐ हृदयाय नमः, २—ॐ भूः शिरसे स्वाहा, ३—ॐ भुवः शिखायां वषट्, ४—ॐ स्वः कवचाय हुं, ५—भूर्भुवः स्वः वौषट् नेत्रयोः, ६—ॐ स्वः करतलयोः फट्।

तदनन्तर निम्न प्रकार ध्यान करे—

श्वेत-वर्णा समुद्दिष्टा कौशेय-वसना तथा ।
श्वेतैर्विलेपनैः पुष्पैरलङ्कारैश्च भूषिता ॥
आदित्य-मण्डलान्तःस्था ब्रह्म-लोक-गतान्तरा ।
अक्ष-सूत्र-धरा देवी पद्मासन-गता तथा ॥

ॐ तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम-नामासि प्रियं देवानामना धृष्टं देव-यजनमसि । गायत्री चैक-पदी द्वि-पदी त्रि-पदी चतुष्पद्यपि । नमस्ते तुरीयाय दर्शनाय पदाय परो रजसे ।

इस प्रकार उस परमाक्षरी गायत्री देवी का पूजन करे । पुनः ध्यान कर सावित्री के पूजा-यन्त्र पर पुष्प स्थापित करे । पहले 'त्रिकोण' अङ्कित कर उसके वाहर 'षट्-कोण' वनाये । तव 'वृत्त' वनाकर 'अष्ट-दल-कमल' अङ्कित कर उसके वाहर चार द्वारों से युक्त 'चतुरस्र' वनाए । यही 'सावित्री यन्त्र' है । प्रणवादि समस्त मन्त्र का उच्चारण कर पाद्यादि का उल्लेख कर चतुर्थी-विभक्ति-युक्त 'सावित्री' के साथ दान-सूचक शब्द लगाकर यथा-शक्ति पूजन करे । यथा—

ॐ भूः'''प्रचोदयात् ॐ पाद्यं सावित्र्यै समर्पयामि नमः ।

पूजन करने के वाद गायत्री-मन्त्र का यथाशक्ति जप करे । छः हजार जप से पापों का नाश होता है । जप-फल का समर्पण देवी के वाएँ हाथ में निम्न मन्त्र से करे—

महेश-वदनोत्पन्ना विष्णोर्हृदय-संस्थिता ।
ब्रह्मणा समनुज्ञाता गच्छ देवि ! यथेच्छया ॥

तदनन्तर स्तोत्रादि का पाठ करे। विधि-पूर्वक एक लाख जप से इस मन्त्र का पुरश्चरण होता है। वाद में पुरश्चरण की सिद्धि के लिए जप का दशांश अर्थात् दस हजार आहुतियां देकर होम करे। फिर होम का दशांश अर्थात् एक हजार तर्पण करे। तव तर्पण का दशांश अर्थात् मन्त्र से एक सौ वार अभिषेक कर अन्त में अभिपेक का दशांश अर्थात् दस व्राह्मणों को भोजन कराये। इस प्रकार करने से सभी अभीष्ट फलों की देनेवाली देवी 'सिद्ध' अर्थात् सन्तुष्ट होती हैं।

जल से मार्जन करने की विधि यह है कि १ भूमि, २ शिर, ३ आकाश, पुन: ४ आकाश, फिर ५ भूमि, ६ मस्तक, ७ मूर्ध्नि, पुन: ८ भूमि, फिर ९ आकाश के प्रति क्रमश: नौ वार जल छिड़के। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के अनुसार यही क्रम है।

ऋग्वेद के अनुसार मार्जन का क्रम यह है कि १ आकाश, २ शिर, ३ भूमि, पुन: ४ भूमि, ५ आकाश, ६ शिर, फिर ७ भूमि, ८ आकाश और ९ मूर्ध्नि के प्रति क्रमश: मार्जन करे। मार्जन **'आपोहिष्ठेत्यादि'** अष्टाक्षर-मन्त्र से करे। इस प्रकार मार्जन करने से सभी पाप नष्ट होते हैं। तव स्तुति और कवच का पाठ कर देवी को प्रणाम करे।

श्री देवी ने कहा कि 'तुरीय-धाम का जो देव परमात्मा है, वह शिर-पद्म में स्थित है। फिर उसे वाहर कैसे नमस्कार किया जा सकता है?'

श्री शिव ने वताया कि 'शिर-पद्म में महादेव हैं, जो परम गुरु हैं। उनके समान कोई नहीं है। वे तीनों भुवनों में पूज्य हैं। उन्हीं के रूप में वाहर गुरु-चतुष्टय का ध्यान करे। अन्य गुरु भावनानुसार उन्हीं के अंश-स्वरूप हैं। उसी प्रकार सभी

ब्राह्मण अंशावतार-रूप हैं। इनके प्रत्यक्ष दर्शन होने पर इन्हें ब्रह्म-रूप मानकर नमस्कारादि करना चाहिए। मोहवश जो ऐसा नहीं करता, वह आपत्ति में पड़ता है। ब्रह्मचारी, तीनों यतियों और ब्राह्मणादि को देखते ही उन्हें दण्डवत् प्रणाम करे। रक्त-वस्त्र पहने, शरीर में भस्म लगाए, हाथ में दण्ड और त्रिशूल लिए महात्मा को देखकर साधक उसको तीन बार प्रदक्षिणा करे अन्यथा पापी होता है।

चौथा पटल—योग का विवरण

श्री चण्डिका ने पूछा कि 'संन्यास कैसा होता है? अवधूत किस प्रकार का होता है? ब्रह्मचारी या गृहस्थ कैसा होता है?'

श्री शिव ने बताया कि 'दण्ड धारण करनेवाला, दिव्य प्रकाश से युक्त स्वरूप संन्यास का समझना चाहिए। कौलिक गृहस्थ वीर साधक का स्वरूप सदा भस्म और चन्दनादि से विभूषित होता है। उसी प्रकार ब्रह्मचारी का स्वरूप होता है। साधु-रूपी गृहस्थ सबका पितृ-समान है।'

अब बृहद्-ब्रह्माण्ड का लक्षण कहूँगा। मेरु-पर्वत का मध्य भाग सभी देवताओं का आश्रय है। उसके मध्य में महा धीरा नदी सदा बहती है। सुमेरु के ऊर्ध्व भाग में सत्य-लोक और अधोभाग में रसातल है। इस प्रकार मेरु में चौदह भुवन और सात पाताल स्थित हैं। ऊर्ध्व भाग में ब्रह्म पद्म है, जो अधो-मुख है। धरा-मध्य में चतुर्दल कमल है, जिसके बीज-कोष में मनोहर पृथ्वी-चक्र है और चारों ओर सात समुद्र उसे घेरे हुए हैं। मध्य में चौकोर जम्बुद्वीप मनोरम है। काम-गृह त्रिकोण है, जिसके देवता हैं कन्दर्प। ऐन्द्र रूप 'लं' बीज है, जिसका वाहन गजेन्द्र है। त्रिकोण में लिङ्ग-रूप महेश्वर हैं। सर्प-रूपा

माया-शक्ति साढ़े तीन फेरों में लिङ्ग से लिपटी हुई है और उसके छिद्र को अपने मुख से ढँके हुए है। लिङ्ग के वांए भाग में ऐन्द्रबीज है, जिसके नाद के ऊपर ब्रह्म-सदन है। वहीं सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा रहते हैं। उनकी वाईं ओर वेद-माता सावित्री हैं, जिनकी कृपा से वे सदा सृष्टि करते हैं।

ब्रह्म-सदन एक लाख योजन तक फैला है। उसे ऋग्वेद कहते हैं। त्रिकोण में ६२ कोष्ठ है। उसके मध्य में, वाहर, पीछे, आगे सव देवों के अग्रज पर्वत हैं। कीट, पशु, पक्षी, आदि सभी पृथ्वी पर हैं। चतुष्कोण में सात पर्वत हैं--१ नीलाचल, २ मन्दर, ३ चन्द्र-शेखर, ४ हिमालय, ५ सुवेल, ६ मलय और ७ भस्म पर्वत। इनके शिखर से अनेक रूपवाले पर्वत उत्पन्न हुये। वहीं अनेक देवालय, दानवालय और विविध रूपवाले लाखों तृण, गुल्म, लता आदि पूर्वोक्त ढंग से उत्पन्न होते हैं और मरते हैं।

पाँचवाँ पटल—विष्णु-लोक का वर्णन

श्री शिव वोले--उक्त पद्म के ऊपर 'भीम' नामक पद्म है, जिसके छः दल हैं। फिर वृत्त है, जो चार द्वारों से विभूषित है। पद्म के मध्य में राज-कोष में मनोहर भुवर्लोक है, जो सिन्दूर के समान रक्त-वर्ण का है और उसके ऊपर विष्णु निवास करते हैं। उनके वाईं ओर लक्ष्मी और दाईं ओर सरस्वती हैं। ब्रह्मा लोकों की सृष्टि करते हैं और चक्र-पाणि उनका पालन करते हैं। इस स्वर्ग का नाम 'वैकुण्ठ' है, जहाँ अनेक देवालय हैं।

वैकुण्ठ के दाईं ओर 'गो-लोक' है, जहाँ राधा देवी और कृष्ण हैं। वहीं कैलास, सूर्य-चन्द्र-काम देवों का निवास है। निराकार महा-विष्णु ही साकार होकर मुरली-धर होते हैं। वीज-कोष के वाहर क्षीर-सागर है। गङ्गादि नदियाँ भी वहीं हैं और इन्द्रादि देव-गन्धर्व-यक्षादि सदा स्तुति करते हैं। कृष्ण की

मुरली से ही रागों की उत्पत्ति होती है। राधा के पूछने पर कृष्ण ने कहा 'कि जो पहले राधा का, फिर कृष्ण का जप करते हैं, उन्हें सद्-गति मिलती है।'

छठा पटल—रुद्र-लोक का वर्णन

उक्त पद्म के ऊपर 'महा-पद्म' है, जिसके दस दल हैं और जो नीले वर्ण का आकाश-स्वरूप है। 'ड' से 'फ' तक के दस अक्षरों से दल सुशोभित हैं। मध्य के वीज-कोष में वह्नि-वीज है। उसके वाहर स्वस्तिक है। यही स्वर्लोक कहा गया है। माकार वह्नि-वीज का वाहन मेष है। वहीं मोह-नाशक रुद्र का निवास है। उनके वाईं ओर संहार-कारिणी भद्रकाली महा-विद्या हैं। परम देव रुद्र सदा संहार करते हैं।

रुद्र-लोक महा-स्वर्ग है और गो-लोक से चार गुना वड़ा है। भस्म-भूषित रुद्र महा-मोक्ष के देनेवाले हैं और काली की ही आराधना कर मुरलीधर वैकुण्ठ के स्वामी होकर गो-लोक में रहते हैं और लक्ष्मी-सहित विष्णु सृष्टि का पालन करते हैं।

सातवाँ पटल—महर्लोक का लक्षण

उक्त पद्म के ऊपर सुन्दर 'विमल पद्म' है, जिसके वारह दल हैं और सिन्दूर के समान लाल वर्ण का है। उसके मध्य में वीज-कोष में षट्-कोण है। मध्य में वायु-वीज है। ईश्वर के वाएँ भाग में भुवनेश्वरी विद्या है। यही महर्लोक है, जहाँ योगीजन मानस याग करते हैं। गो-लोक से यह सौ गुना वड़ा है।

ईश्वर सवके कर्त्ता और निर्गुण हैं। भुवनेशी के सहयोग से ही वे सव कुछ करते हैं। अतः भुवनेशी ही मोक्ष-दायिनी हैं।

आठवाँ पटल—जनर्लोक का वर्णन

इसके ऊपर सबका मोहन करनेवाला पद्म है, जो सोलह दल का है। धुएँ के बीच में अग्नि की जैसी आभा होती है, वैसी चमकवाला यह पद्म है। इसके मध्य में जन-लोक है। गो-लोक से लाख गुना अधिक यह है। इसके बीज-कोष में षट्-कोण है। मध्य में महा-सिंह है, जिसके ऊपर गौरी और उनके दाईं ओर सदाशिव हैं। सदाशिव के पाँच मुख हैं और प्रत्येक मुख में तीन नेत्र हैं। भस्म-भूषित हैं और व्याघ्र-चर्म धारण किये हैं, सर्पों की माला पहने हैं। ये सभी लोकों को ज्ञान देनेवाले और मुक्ति-दाता हैं। यही अर्द्ध-नारीश्वर हैं। इनकी अर्द्धाङ्गिनी गौरी लोक-माता हैं। उन्हीं की कृपा से सदाशिव सब कुछ करते हैं।

नवां पटल—तपोलोक का लक्षण

उक्त पद्म के ऊपर 'ज्ञान-पद्म' है, जिसके दो दल हैं। मध्य के बीज-कोष में चिन्तामणि पुरी है। उसके मध्य में नव-कोण यन्त्र है, जिसके मध्य में हंस-रूप शम्भु-बीज है। हंस परब्रह्म-स्वरूप साकार शिव-रूप है, जिसके पंख आगम और निगम हैं। दो पैर शिव और शक्ति हैं। बिन्दु-त्रय नेत्र हैं। इस हंस का निवास स्वर्ण कमल है।

उक्त हंस मणि-द्वीप में है। उसके बाईं ओर सदानन्द-स्वरूपिणी सिद्ध-काली हैं। उसी के प्रसाद से महेश्वर सर्व-कर्ता हैं। यही तपोलोक है, जो देवों को भी दुर्लभ है और जहाँ ब्रह्मादि सदा ध्यान-योग का अभ्यास करते हैं। तपोलोक गोलोक से चार लाख गुना है।

सालोक्य मुक्ति महर्लोक में है, सारूप्य जन-लोक में और सायुज्य तपोलोक में। निर्वाण मुक्ति उसके ऊपर है।

इस प्रकार छः स्वर्गों के लक्षण कहे गये, जिनके जानने से आयु, आरोग्य और ऐश्वर्य मिलता है तथा आवागमन से मुक्ति मिलती है।

शब्द ब्रह्म-स्वरूप है, शब्द-ब्रह्म-मय इस तन्त्र को सुनने से अपूर्व पुण्य मिलता है।

दसवाँ पटल: सत्यलोक का वर्णन

ज्ञान-पद्म के ऊपर सहस्र-दल कमल है, जो अधोमुख होकर सुमेरु के ऊपर स्थित है। इसकी पंखड़ियाँ सर्व-शक्तियों से युक्त हैं और उनका रंग कभी श्वेत, कभी रक्त, कभी पीत, कभी कृष्ण, कभी हरित—इस प्रकार विविध प्रकार से बदलता रहता है।

उक्त पद्म के मध्य में वीज-कोष में चौदह भुवन हैं। उनके मध्य में सत्य-लोक है, जहाँ महा-रुद्र हैं। वहीं कल्पद्रुम है, जिसके समीप ज्योतिर्मण्डल है। उसके मध्य में वेदी पर रत्न-सिंहासन है, जिस पर महा-काली चणकाकार-रूप से परमात्मा-स्वरूपा हैं जो माया द्वारा अपने को ढँके हुये हैं। वही एक रूप ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर तीन नामों से प्रसिद्ध है।

सत्य-लोक के वीज-कोष में चिन्तामणि-गृह है। उसमें रत्न-सिंहासन के ऊपर निरञ्जन का और उनके समीप पूजा-ध्यान-परायण अपने गुरु का उनकी पत्नी-सहित ध्यान करे।

शक्ति के एक अंश से ब्रह्मा, एक से विष्णु और एक अंश से शम्भु होते हैं। वह महा-काली ही सृष्टि करती है और प्रलय में उसी में सारी सृष्टि लय हो जाती है। अतः काली निर्वाण देती है, जब कि पुरुष स्वर्ग देता है। यम काली के नाम से ही दूर चले जाते हैं। वही दक्षिणा नाम से प्रसिद्ध है। उसी का स्थान सत्य-लोक कहा जाता है।

उक्त वीज-कोष के मध्य में सुधा-सागर है, जिसके मध्य में मणि-द्वीप है। वहाँ कदम्व-वन है, जिसके मध्य में कल्पद्रुम सहित चार द्वारवाला ज्योतिर्मन्दिर है। सहस्रों देव-कन्यायें वहां सेवा करती हैं। वहीं पञ्चाशदक्षरात्मिका वेदी पर रत्न-सिंहासन के ऊपर महा-काली और महा-रुद्र चणकाकार-रूप से विराजमान हैं।

इस प्रकार क्रमशः सात स्वर्गों का वर्णन संक्षेप में किया गया।

ग्यारहवाँ पटल—तत्त्व-ज्ञान का विवेचन

तत्त्व-ज्ञान के प्रसाद से ही ब्रह्मा लोक-पितामह हुये हैं, विष्णु सत्व-गुण के आश्रय हैं, शम्भु संहार-कारक हैं और अन्यों ने मुक्ति प्राप्त की है।

१ मद्य, २ मांस, ३ मत्स्य, ४ मुद्रा और ५ मैथुन---ये पञ्च-तत्व ही निर्वाण-मुक्ति के हेतु हैं। मद्य-पान से आठों ऐश्वर्य मिलते हैं। मांस-भक्षण से साक्षात् नारायण-स्वरूप होता है। मत्स्य-भक्षण से काली का साक्षात्कार होता है। मुद्रा का सेवन करने से विष्णु-वत् पूज्य वनता है और मैथुन से शिव के समान योगी होता है। इस धर्म की महिमा अन्य तन्त्रों में कही गई है। तत्वो के इस ज्ञान से निर्वाण-मुक्ति मिलती है।

जहाँ पाँचों तत्व एकत्र होते हैं, वहाँ पुरुष शिव-स्वरूप होते हैं और स्त्रियाँ काली-स्वरूपा होती हैं। तत्व-ज्ञान-परायण लोग होकर ब्रह्म-स्वरूप ही होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। तत्व-परायण ब्राह्मण परम तत्व को प्राप्त करता है। क्षत्रियादि सायुज्यादि महा-मुक्ति को पाते हैं।

दिव्य-भाववालों को सदा तत्व-ज्ञान रहना चाहिये। वीर-भाववालों को सदा तत्व-सेवन करना चाहिए। पशु-भाववालों को इनका ज्ञान न कराना चाहिए।

सिद्धि का मार्ग यही है कि शक्ति को लाकर साधक यत्न-पूर्वक पञ्च-तत्वों से पूजन करे। जहाँ चक्र-पूजा होती है, वहीं ध्यान की सिद्धि होती है और वहीं कामनायें पूर्ण होती हैं।

शैव, शाक्त, गाणप, सौर, चान्द्र साधना में यही तत्व-ज्ञान कहा गया है।

बारहवाँ पटल—वैष्णव तत्त्व

१ गुरु-तत्व, २ मन्त्र-तत्व, ३ वर्ण-तत्व, ४ देव-तत्व और ५ ध्यान-तत्व---ये पञ्च-तत्व वैष्णव साधना में कहे हैं।

'गुरु' के मन्त्र देने से देहस्थ ब्रह्म-तेज प्रदीप्त हो उठता है। ···देवता का शरीर वीज से उत्पन्न होता है, अतः 'मन्त्र' देव-रूप ही है।···ईश्वर का वीर्य ही अक्षरात्मक है, अतः जीव-देह वर्णात्मक है। मन्त्र के 'वर्ण' में सभी वर्णों का लय होता है।... स्वयं देवता ही सर्व-व्यापी है, 'देव'-रूप है।···सर्वत्र देवता का 'ध्यान' करे, जिससे सिद्धि मिलती है।

इस प्रकार भक्ति-युक्त होकर पञ्च-तत्वों को जानने से अम-रत्व मिलता है और स्वर्ग-मार्गी होकर विष्णुलोक को प्राप्त करता है।

तेरहवाँ पटल—संन्यास का विवरण

दण्ड-धारण करने योग्य वह ब्राह्मण है, जो साधु-स्वरूप हो ब्रह्म-वादी हो, सभी माया को छोड़ चुका हो, सदा धर्म-परा-यण हो, जितेन्द्रिय और क्रोध को जीत चुका हो, सभी जातियों में समान भाव रखनेवाला हो, पुत्र और शत्रु में, स्वर्ग और

मृत्यु-लोक में सम-भाव हो, पुत्र-मित्र-शत्रु सबके प्रति दया-भा
हो, लाभ-हानि में, जय और विनाश में, निन्दा और पुष्टि
एक ही भाववाला हो, शरीर और प्राण से बँधा न हो, सद
सम-भाव रखनेवाला हो। ब्रह्म-ज्ञान के सिवा अन्य कोई ज्ञा
जिसके चित्त में न हो, वही संन्यास-धर्म का अधिकारी है।

मुक्ति के लिये ही विप्र को संन्यास लेना चाहिये। जो विप्र
दण्ड धारण करता है, वह साक्षात् नारायण होता है। संन्यास
ग्रहण करने के लिये किसी दण्डी संन्यासी के पास जाकर कहे
कि—'हे देव-देवेश ! तुम्हीं त्राण करनेवाले हो। सारे जगत् के
तुम वन्धु हो। तुम्हारी शरण में मैं आया हूँ, मेरी रक्षा करो।'

यह सुनकर दण्डी संन्यासी सादर पूछे—'तुम कौन हो ? तुम
किसके पुत्र हो ? किसलिये आये हो ?'

इस पर विप्र कहे कि—'मैं विप्र-वंश में उत्पन्न 'अमुक'
(अपना नाम ले) हूँ। मेरे माता-पिता नहीं हैं, न मेरे स्त्री-पुत्र
हैं। अतः हे स्वामिन् ! मुझे आश्रय दें।'

संन्यासी कहे---'जो कुछ तुमने कहा है, वह सत्य है, इसकी
शपथ लो। मिथ्या कहने से ब्रह्म-मार्ग का अधिकार नहीं रहता।
युवती पत्नी के होते हुये दण्ड धारण करना निष्फल होता है।
माता-पिता के रहते जो दण्ड लेता है, उसका संन्यास विफल
होता है और रौरव नरक में जाता है। जिसके पत्नी-बच्चे होते
हैं, उसका संन्यास लेना व्यर्थ होता है और गुरु-शिष्य दोनों
नरक में जाते हैं।'

इस प्रकार निश्चय कर अधिकारी को संन्यास देना चाहिये।

चौदहवाँ पटल—चार आश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम में गेरुआ वस्त्र धारण कर देवता के ध्यान
में लगा रहे। फल-मूल का आहार करे और गो-दुग्ध पिये।

दूषित अन्न-जल को ग्रहण न करे। यदि गृहस्थ हो, तो ऋतु-काल के विना पत्नी का संसर्ग न करे। सदा सब पर दया-भाव रखे। एक त्रिशूल रखे, ताम्र-युक्त रुद्राक्ष कानों में पहने।

गृहस्थ आश्रम में सदैव पाठ, होम, अतिथि-सेवा, देव-पूजा, श्राद्ध, कुलाचार-पालन करे। तत्त्वों का ज्ञान रखे। अपनी पत्नी की सदा पूजा करे। मानस पूजन कर जप करे। घर में सदा पांचों तत्व रखे। इससे वह सभी सिद्धियों का स्वामी होता है।

संन्यास आश्रम का रूप जैसा बताया जा चुका है, उसी प्रकार सभी कर्म करके वीर-साधक अवधूत आश्रम को प्राप्त करता है। केवल उसके केशों का मुण्डन नहीं किया जाता। केश-जाल से युक्त वह अस्थि-माला या रुद्राक्षों को धारण करता है। दिगम्बर रहता है या कौपीन मात्र पहनता है। रक्त-चन्दन और भस्म से अपने को विभूषित रखता है। सदा 'शिवोऽहं, भैरवोऽहं' के भाव से युक्त रहता है। हेतु (कारण) और सम्विदा के सेवन में तत्पर रह वह साक्षात् शम्भु-रूप होता है।

इस प्रकार चारों आश्रम के लक्षण कहे गये।

पन्द्रहवाँ पटल—शिवार्चन-विधि

पहले शिव का पूजन करे। तव शक्ति की पूजा करे। जो कुछ भी पूजोपचार हों, उन्हें पहले शिव को प्रदान करे। आदि में लिंग-पूजन ही करे। शिव-स्नानोदक को सिर पर धारण करने से साक्षात् शिव का स्वरूप प्राप्त होता है।

पार्थिव शिव-पूजन की विधि यह है कि पहले गुरुदेव को नमस्कार कर '**नमो हराय**' मन्त्र से शिव को नमन कर पार्थिव शिव-लिङ्ग वनाने हेतु शुद्ध मिट्टी ले। '**महेश्वराय नमः**' मन्त्र जपते हुये शिव-लिङ्ग वनाये। उस लिङ्ग में निम्न मन्त्र से प्राण-प्रतिष्ठा करे—

शूल-पाणे ! इह सु-प्रतिष्ठितो भव ।

'स्रां स्रीं स्रूं स्रैं स्रौं'—से जीव-न्यास कर ध्यान करे—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजत-गिरि-निभं चारु-चन्द्रावतंसम् ।
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशु-मृग-वराभीति-हस्तं प्रसन्नम् ।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममर-गणैर्व्याघ्र-कृत्तिं वसानम् ।
विश्वाद्यं विश्व-बीजं निखिल-भय-हरं पञ्च-वक्त्रं त्रिनेत्रं ।

लिङ्ग के ऊपर पुष्प रखकर मानस-पूजन करे। पुनः ध्यान कर शिव-लिङ्ग पर पुष्प चढ़ाये। तब निम्न मन्त्र से लिङ्ग में आवाहनादि करे—

पिनाक-धृक् ! इहागच्छ इहागच्छ, इह तिष्ठ इह तिष्ठ, इह सन्निधेहि इह सन्निधेहि, इह सन्निहितो भव, इह सन्निरुन्धस्व, यावत् पूजां करोम्यहम् ।

यथोपचारों से पूजन कर १०८ बार मन्त्र जप कर जप-फल समर्पित करे। फिर स्तोत्रादि का पाठ कर, मुख-वाद्य बजाकर अष्टाङ्ग प्रणाम करे। अन्त में संहार-मुद्रा से 'क्षमस्व' कहकर विसर्जन करे।

शैव, वैष्णव हो या दुर्गा-सूर्य-गणपति-इन्द्रादि किसी का उपासक हो, पहले शिव की पूजा करे, तब अन्य देवता की। ऐसा करने से कोटि गुना फल मिलता है, इसमें सन्देह नहीं। अन्य देव की पूजा पहले करके यदि बाद में शिव की पूजा की जाती है, तो उस पूजा का सारा फल यक्ष-राक्षस खा जाते हैं। अतः पहले शिव का ही अर्चन करे।

• • •

प्रथमः पटलः

परब्रह्म-निरूपणम्

ॐ नमः परम-देवतायै ।

कैलास-पर्वते रम्ये नाना-रत्नोपशोभिते ।

विपरीत-रतासक्ता चण्डी पप्रच्छ शङ्करं ॥

श्रीचण्डिकोवाच—निराकारं निर्गुणं च स्तुति-निन्दा-विवर्जितं । सुनित्यं सर्व-कर्तारं वर्णातीतं सुनिश्चलं । संज्ञा-विरहितं शान्तं किमाकारं प्रतिष्ठितं ? तस्मादुत्पत्तिर्देवेश ! किमाकारेण जायते ?

श्रीशङ्कर-उवाच—शृणु देवि ! परं तत्त्वं वर्णातीतां च वैखरीं । गुणालयां गुणातीतां स्तुति-निन्दा-विवर्जितां । आकार-रहितां नित्यां रोग-शोकादि-वर्जितां ॥ पूजा-योगं च देवेशि ! स्वयमुत्पत्ति-कारणं । येन रूपेण ब्रह्माण्डा जायन्ते शृणु तत् शिवे ॥ आकाशाज्जायते वायुर्वायोरुत्पद्यते रविः । रवेरुत्पद्यते तोयं तोयादुत्पद्यते मही ॥ पञ्च-भूतैश्च ब्रह्माण्डा भवेयुः पर्वतात्मजे ! ब्रह्माण्ड-स्थापनार्थाय कूर्म-पृष्ठे ह्यनन्तकः । तन्मूर्ध्नि बालुकाकारा ब्रह्माण्डा बहवः स्थिताः ॥ कारुण्य-वारि-

मध्ये तु कूर्मश्चरति नित्यशः। अहमेव त्रिशूलेन पालयामि पुनः पुनः ॥

श्रीचण्डिकोवाच—किमाकारं तु ब्रह्माण्डं तन्मे ब्रूहि महेश्वर ! सृष्टि-प्रकारं तन्मध्ये किमाकारं हि तत्त्ववित् ?

श्रीशङ्कर-उवाच—जन्तोराकारं ब्रह्माण्डं नानाविग्रहं पार्वति ! ब्रह्माण्डं विग्रहं प्रोक्तं स्थूल-क्षुद्रादिकं हि तत् ॥ मेरुः पर्वतस्तन्मध्ये तथा सप्त-कुलाचलाः। मूलादि-मस्तकान्तं वै सुमेरुर्नाम पर्वतः ॥ स्थितं मेरोरधोभागे द्व्यंगुल्याश्चोर्ध्व-देशतः। भूर्लोकादि महेशानि ! सप्त-स्वर्गं क्रमेण हि ॥ द्व्यंगुल्याः सप्त-पातालास्तिष्ठन्ति परमेश्वरि ! सत्य-लोके निराकारा महा-ज्योतिः-स्वरूपिणी ॥ माययाच्छादितात्मानं चणकाकार-रूपिणी। हस्त-पादादि-रहिता चन्द्र-सूर्याग्नि-रूपिणी। माया-वल्कल-सन्त्यज्या द्विधा भिन्ना यदोन्मुखी। शिव-शक्ति-विभागेन जायते सृष्टि-कल्पना ॥ प्रथमे जायते पुत्रो ब्रह्म-संज्ञो हि पार्वति !

श्रीकालिकोवाच—शृणु पुत्र ! महावीर ! विवाहं कुरु यत्नतः। एतच्छ्रुत्वा ततो ब्रह्मा उवाच सादरं प्रिये ! त्वं विना जननी नास्ति शक्तिं मे देहि सुन्दरीं ॥ तच्छ्रुत्वा जगतां माता स्व-देहान्मोहिनीं ददौ। द्वितीया

सा महा-विद्या सावित्री परमा कला ।। अस्याः सङ्गं समासाद्य वेद-विस्तारणं कुरु । अनायासं सृष्टि-कर्ता भव त्वं मही-मण्डले । द्वितीये जायते पुत्रो विष्णुः सत्व-गुणाश्रयः ।। शृणु पुत्र ! महावीर ! विवाहं कुरु यत्नतः । तव दर्शन-मात्रेण निष्कामी जायते पुमान् । कथं करोमि हे मातर्मोहिनीं देहि मे शिवे ! देहाच्छक्तिं च निर्गत्य ददौ तस्मै च कालिका ।। वैष्णवीं तां महा-विद्यां श्रीविद्यां परमेश्वरीं । तामाश्रित्य महा-विष्णुः पालयत्यखिलं जगत् ।। तृतीये जायते पुत्रो महा-योगी सदा-शिवः । तं दृष्ट्वा सा महाकाली तुष्टि-युक्ताऽभवन्मुदा ।। शृणु पुत्र ! महा-योगिन् ! मद्वाक्यं हृदये कुरु । त्वं विना पुरुषः को वा मां विना काऽपि मोहिनी ।। अतस्त्वं परमानन्द ! विवाहं कुरु मे शिव !

श्रीशिव उवाच—— यदुक्तं मयि हे मातस्त्वं विना नास्ति मोहिनी । सत्यमेतज्जगन्मातर्मां विना पुरुषो न च ।। अस्मिन् देहे संस्थिते च न करोमि विवाहकं । कुरु देहान्तरं मातः ! करुणा यदि वर्तते । तत्क्षणे सा महा-काली ददौ भुवन-सुन्दरीं । आदि-भूता यथा काली तथा भुवन-सुन्दरी । तामाश्रित्य महा-योगी संहरत्यखिलं जगत् । शम्भोरष्ट-विभागश्च शक्तिश्चाष्ट-विधा भवेत् । कालिकाद्या महा-विद्या ह्यनेन परमेश्वरि !

इति ते कथितं कान्ते ! यथा ब्रह्म-निरूपणं । गोपनीयं
प्रयत्नेन विद्योत्पत्तिर्यथा प्रिये !

।। इति निर्वाण-तन्त्रे सर्व-तन्त्रोत्तमोत्तमे चण्डिका-
शङ्कर-सम्वादे परंब्रह्म-निरूपणं नाम प्रथमः पटलः ।।

द्वितीयः पटलः

सृष्टि-प्रकरणम्

श्रीचण्डिकोवाच—त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं नाथ ! परं-ब्रह्म-निरूपणं । इदानीं श्रोतुमिच्छामि क्षितौ सृष्टिर्यथा भवेत् ॥

श्रीशिव उवाच—शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि यथा सृष्टिः प्रजायते । सत्य-लोके महा-काली महा-रुद्रेण सम्पुटा । चणकाकृति-विस्तारा चन्द्र-सूर्यादि-रूपिका । अनादि-रूप-संयुक्ता तदंशा जीव-संज्ञकाः । ज्वलदग्ने-र्यथा देवि ! स्फुरन्ति विस्फुलिङ्गकाः । तस्याश्च्युतं परं बिन्दुर्यदा भूमौ पतत्यपि । तदैव सहसा देवि ! शक्त्या युक्तो भवत्यपि । स्थावरादिषु कीटेषु पशु-पक्षिषु शैलजे ! चतुरशीति-लक्षं वै जन्म चाप्नोति सोऽव्ययः । ततो लभेत् परेशानि ! मानुषीं दुर्लभां तनुं । यतो मानुष-देहस्तु धर्माधर्माधिपश्च सः । ततोऽपि लभते जन्म पुन-र्मृत्युमवाप्नुयात् । जायन्ते च म्रियन्ते च कर्म-पाश-नियन्त्रिताः । चतुरशीति-लक्षेषु नाना-योनिषु शैलजे !

श्रीचण्डिकोवाच—कथं वा लभते जन्म कथं मृत्यु-

भवेत् प्रभो ? तत्प्रकारं महादेव ! श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥

श्रीशङ्कर-उवाच—इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते । जीवस्तृण-जलौकेव देहाद् देहान्तरं व्रजेत् । सम्प्राप्य चोत्तमं देहं देहं त्यजति पूर्वकं । इति श्रुत्वा च सा चण्डी पप्रच्छ परमेश्वरं ।

श्रीचण्डिकोवाच—प्राप्तं चोत्तर-देहं तु पिण्ड-दानादिकं कथं ?

श्रीशिव उवाच—शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि माया-देहं तदैव हि । माया-देहं परेशानि ! वायु-रूपो न चान्यथा । वायु-रूपो यतो देह आकाशस्थो निराश्रयः । ततश्च पिण्ड-दानेन वायुः स्थिर-तरो भवेत् । प्रथमे मस्तकं देवि ! जायते च क्रमावधि । ततो यम-पुरं गत्वा धर्माधर्मादिकं च यत् । तद् भुक्त्वा चापरं किञ्चिद् यदा कर्म न विद्यते । यदाज्ञया तदा जीवः प्रययौ ब्रह्म-शासनं । तस्मात् कर्मानुसारेण यदि स्याद् दुर्लभा तनुः । महा-विद्यां भाग्य-वशाद् यदि प्राप्नोति सद्-गुरुं । तत्त्व-ज्ञानं महेशानि ! यदि भाग्य-वशाल्लभेत् । तदैव परमं मोक्षं यावद् ब्रह्माण्डं तिष्ठति । ब्राह्मणस्य महा-मोक्षं सायुज्यं क्षत्रियस्य च । सारूप्यं चोरु-जातस्य शूद्रस्य

सह-लौकिकं। महा-विद्या-प्रसादेन पुनरागमनं नहि। बृहद्-ब्रह्माण्ड-नाशे तु सर्व-मोक्षं यदा शिव ! तदा सर्वस्य निर्वाणं भवत्येव न संशयः।

श्रीचण्डिकोवाच—बृहद्-ब्रह्माण्ड-बाह्ये तु किं पुनः परमेश्वर ! तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि यदि स्नेहोऽस्ति मां प्रति।

श्रीशिव उवाच—ब्रह्माण्डस्य बाह्य-देशे ब्रह्माण्डा बहवः स्थिताः। अनन्तस्य प्रमाणं तु किं वक्तुं शक्यते मया। स एव निश्चितं सर्वं सैव सर्वं महेश्वरि !

॥ इति निर्वाण-तन्त्रे सर्व-तन्त्रोत्तमोत्तमे श्रीशङ्कर-चण्डिका-सम्वादे द्वितीयः पटलः ॥

तृतीयः पटलः

गायत्री-क्रमम्

श्रीशिव-उवाच—प्रकृत्या जायते पुंसां प्रकृत्या सृज्यते जगत् । तोयात्तु बुद्-बुदं देवि ! यथा तोये विलीयते । प्रकृत्या जायते सर्वं पुनस्तस्यां प्रलीयते । तस्मात् प्रकृति-योगेन जायते नान्यथा क्वचित् । ब्रह्मा विष्णुः शिवो देवि ! प्रकृत्या जायते ध्रुवं । तथा प्रलय-काले तु प्रकृत्या लुप्यते पुनः । शाक्ता एव द्विजाः सर्वे न शैवा न च वैष्णवाः । उपासन्ते यतो देवीं गायत्रीं परमाक्षरीं । गायत्रीं शृणु चार्वङ्गि ! चतुर्वेद-प्रपूजितां । वेद-मातेति विख्यातां त्रि-वर्ग-फल-दायिनीं ।

हालाहलं समुद्धृत्य नाभ्यक्षरं समुद्धरेत् । वाम-कर्ण-समायुक्तं पुनर्नाभि समुद्धरेत् । कर्ण-युक्तं मूर्ध्नि रेफं ततश्च सुर-वन्दिते ! वारुणं रसना-युक्तं चन्द्र-बीजं ततः परं । शान्त-युक्तं स्वर्ग-युतं चैवं व्याहृतिमुद्धरेत् । तत्पदं च समुद्धृत्य सवितुस्तदनन्तरं । वरेण्यमिति चोच्चार्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचो-दयात् प्रणवं तदनन्तरं । इति जप्त्वा महेशानि ! साक्षान्नारायणो भवेत् । धि-नयोर्मध्य-भागे च यकार-

द्वयमेव च। अतएव महादेवि ! अनन्त-श्रुतिरेव च।
इति जप्त्वा महेशानि ! मुक्तो भवति तत्क्षणात्।

अन्त्य-य-कारयोः स्थाने यकारं इति यः पठेत्। स चण्डाल इति ख्यातो ब्रह्म-हत्या दिने दिने। अतएव महेशानि ! तव स्नेहात् प्रकाशितं। सावित्री परमा विद्या त्रैलोक्येषु च दुर्लभा। अस्या ग्रहण-मात्रेण भू-ब्रह्मा नात्र संशयः। षडङ्ग-न्यास-मन्त्रं यत्नात् शृणुष्व प्रियम्वदे ! प्रणव-द्वयं च हृत्पद्मे भूः-कारं शीर्ष-देशके। भुवः शिखायां स्वः-कारं कवचे तु न्यसेत् सुधीः। नेत्र-द्वयोर्भूर्भुवः स्वः स्वः-कारं कर-युग्मके। नमः स्वाहा वषट् कुर्यात् वौषट् फट् क्रमतो न्यसेत्। ध्यानं शृणु वरारोहे ! यथा ध्यात्वा यजेन्नरः—

श्वेत-वर्णा समुद्दिष्टा कौशेय-वसना तथा।
श्वेतैर्विलेपनैः पुष्पैरलङ्कारैश्च भूषिता॥
आदित्य-मण्डलान्तःस्था ब्रह्म-लोक-गतान्तरा।
अक्ष-सूत्र-धरा देवी पद्मासन-गता तथा॥

ॐ तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि प्रियं देवानामना धृष्टं देव-यजनमसि। गायत्री चैक-पदी द्वि-पदी त्रि-पदी चतुष्पद्यपि। नमस्ते तुरीयाय दर्शनाय पदाय परो रजसे।

एवं यजेत तां देवीं गायत्रीं परमाक्षरीं। पुन-

ध्यात्वा यन्त्र-पीठे पुष्पं दद्याद् वरानने । आदौ त्रिकोणं विन्यस्य षट्-कोणं तद्-बहिर्न्यसेत् । वृत्तं चाष्ट-दलं पद्मं तद्-बहिश्चतुरस्रकं । चतुर्द्वार-समायुक्तं सावित्री-यन्त्रमीरितं ।

जीव-न्यासादिकं कृत्वा पूजयेत् तां त्रि-वर्गदां । हालाहलादिकं मन्त्रं समस्तं परमेश्वरि ! समुच्चार्य वदेत् पाद्यं सावित्रीं ङे-युतां ततः । त्यागात्मकं पदं पश्चात् यथा-विभव-विस्तरैः । पूजयेद् बहु-यत्नेन चान्यथा ब्राह्मणाच्युतः । द्रव्याभावे वरारोहे ! पाद्याद्यैरुदकात्मकैः । पूजयित्वा जपेद् देवीं गायत्रीं परमाक्षरीं । दशभिर्जन्म-जनितं शतेन च पुरा कृतं । त्रियुगं तु सहस्रेण गायत्री हन्ति पातकं । महेश-वदनो-त्पन्ना विष्णोर्हृदय-संस्थिता । ब्रह्मणा समनुज्ञाता गच्छ देवि ! यथेच्छया । इति मन्त्रं समुच्चार्य देव्या वाम-करे बुधः । समर्पयेदपि फलं ततः स्तोत्रादिकं पठेत् ।

विधि-वल्लक्ष-जापेन पुरश्चरणमीरितं । तद्-दशांशं हुनेत् पश्चात् पुरश्चरण-सिद्धये । होमस्य तद्-दशांशेन तर्पणं तदनन्तरं । तर्पणस्य दशांशेन अभिषेकं ततः परं । अभिषेक-दशांशकं कुर्याद् ब्राह्मण-भोजनं । ततः सिद्धा भवेद् देवी त्रि-वर्ग-फल-साधनी । माहात्म्यं चास्य मन्त्र-स्य चतुर्वेदेन भाषित ।

आपो मार्जन-मन्त्रस्य प्रकारं शृणु यत्नतः । भूमौ शिरसि चाकाशे आकाशे भुवि मस्तके । मूर्ध्नि भूमौ तथाकाशे यजुर्वेदे सुरेश्वरि ! सामाथर्वे त्विदं देवि ! ऋग्वेदे शृणु शैलजे ! शून्ये शिरसि चावन्यां भूमौ शून्ये शिरे तथा । भूमौ शून्ये तथा मूर्ध्नि चापो मार्जनमाचरेत् । आपोहिष्ठेति मन्त्रेण अष्टाक्षर-पदेन तु ! मार्जनं तत्क्रमेणैव सर्व-पाप-प्रणाशनं । व्यतिक्रमेण चार्वङ्गि ! ब्रह्म-हत्या पदे पदे । अतएव क्रमं सर्वं तव स्नेहात् प्रकाशितं । स्तुतिं च कवचं देवि ! पठित्वा प्रणमेत् सुधीः ।

श्रीदेव्युवाच—तुरीय-धामे यो देवः परमात्मा स एव हि । शिरः-पद्मे स्थिते बाह्ये नमस्कारः कथं भवेत् ?

श्रीशिव उवाच—शिरः-पद्मे महादेवस्तथैव परमो गुरुः । तत्-समो नास्ति देवेशि ! पूज्यो हि भुवन-त्रये । तद्-रूपं चिन्तयेन्मन्त्री बाह्ये गुरु-चतुष्टयं । तदंशा भाव-सम्भूता ये चान्ये गुरवो जनाः । तथैव ब्राह्मणाः सर्वे चांशावतार-संस्थिताः । यदैव बाह्ये चैतांश्च प्रत्यक्षे भावयेत् तदा । सहस्रारे महापद्मे तदा चिन्तां विवर्जयेत् । प्रत्यक्षे दर्शने देवि ! बाह्ये तद्-ब्रह्म चिन्तयेत् । नम-स्कारादिकं देवि ! कुर्यात् साधक-सत्तमः । एभ्यो दर्शन-

मात्रेण नमस्कारादिकं चरेत् । न कुर्याद् यदि मोहेन स भवेदापदाश्रयः । ब्राह्मणादीन् समालोक्य ब्रह्मचारी यति-त्रयं । दृष्टि-मात्रेण गिरिजे ! प्रणमेद् दण्डवद् भुवि । महा-पातक-युक्तोऽपि मुक्तो भवति नान्यथा । न कुर्याद् यदि मोहेन महा-पातक-वान् भवेत् । रक्त-वस्त्रं समालोक्य तथा भस्माङ्ग-भूषितं । दण्ड-हस्तं त्रिशूलं च दृष्ट्वा प्रदक्षिण-त्रयं । प्रकुर्यात् साधक-श्रेष्ठश्चान्यथा पातकी भवेत् ।

॥ इति निर्वाण-तन्त्रे सर्व-तन्त्रोत्तमोत्तमे
श्रीशङ्कर-चण्डिका-सम्वादे तृतीयः पटलः ॥
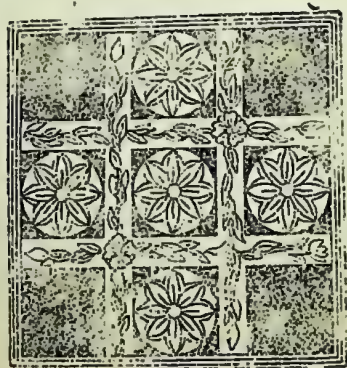
चतुर्थः पटलः

योग-विवरणम्

श्री चण्डिकोवाच—संन्यासं कीदृशं नाथ ! अवधूतश्च कीदृशः ? कीदृशो वा ब्रह्मचारी गृहस्थो वाथ कीदृशः ?

श्रीशिव उवाच—दिव्य-प्रकाशिकां मूर्तिं चिन्तयेद् दण्ड-धारिणीं । वीरस्य मूर्तिं देवेशि ! सदा भस्माङ्ग-भूषणाम् । कौलिकस्य गृहस्थस्य मूर्ति तद्-ब्रह्म-चारिणः । गृहस्थस्य दिव्य-मूर्ति चन्दनादि-विभूषितां । सर्वेषां पितृ-रूपोऽसौ गृहस्थः साधु-रूपकः ।

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि वृहद्-ब्रह्माण्ड-लक्षणं । मेरु-पर्वतस्तन्मध्ये सर्व-देवाश्रयः प्रिये ! महा-धीरा नदी तत्र मध्य-देशे सदा स्थिता । सुमेरोश्चोर्ध्व-देशे तु सत्य-लोकं वरानने ! अधोभागे महेशानि ! प्रतिष्ठति रसातलं । एवं क्रमे मेरु-मध्ये भुवनानि चतुर्दश । पाताल-सप्तकं चोर्ध्वे ब्रह्म-पद्मं महेश्वरि ! अधोवक्त्रं हि तत्पद्मं धरा-मध्ये चतुर्दलं । पद्म-मध्ये वीज-कोषे क्षिति-चक्रं मनोहरं । वलयाकार-रूपेण समुद्राः सप्त संस्थिताः । जम्बु-द्वीपं

मध्य-देशे चतुष्कोणं मनोहरं। त्रिकोणं मदनागारं कन्दर्पश्चाधि-देवता।ऐन्द्र-रूपं हि 'लं'-वीजं गजेन्द्र-वाहनं शिवे! त्रिकोणे मदनागारे लिङ्ग-रूपी महेश्वरः। माया-शक्तिर्महेशानि ! भुजगाकार-रूपिणी। तयैव वेष्टितं लिङ्गं सार्द्ध-त्रिवलयाकृतिः। लिङ्गच्छिद्रं तद्-वक्त्रेण समाच्छाद्य स्थिता सदा। ऐन्द्र-वीजं वरारोहे ! लिङ्गस्य वाम-देशके। सुसिद्धं ब्रह्म-सदनं नादोपरि सु-सुन्दरं। तत्रैव निवसेद् ब्रह्मा सृष्टि-कर्ता प्रजा-पतिः। वाम-भागे च सावित्री वेद-माता सुरेश्वरी। तस्याः प्रसादमासाद्य सृष्टिं वितनुते सदा।

यद्-रूपं ब्रह्म-सदनं लक्ष-योजन-विस्तृतं। तत्सर्वं परमेशानि ! ऋग्वेदाख्यं मयोदितं। त्रिकोणे परमेशानि ! द्वि-षष्टि-तम-कोष्ठकाः। तदेव पर्वतं प्रोक्तं सर्व-देवाग्रजं हि तत्। त्रिकोण-मध्ये तद्-बाह्ये पश्चात् पूर्वं वरानने ! स्थावरं पर्वतं पश्य कीटं पशुमनुत्तमं। खगं नरादिकं देवि ! नास्ति किं पृथिवी-तले। त्रिकोण-बाह्ये गिरिजे ! पर्वतं बहु-रूपकं। नीलाचलं मन्दरं च पर्वतं चन्द्र-शेखरं। हिमालयं सुवेलं च मलयं भस्म-पर्वतं। चतुष्कोणे वसेद् देवि ! एतत् सप्त-कुलाचलं। एतेषां शिखराज्जातं पर्वतं बहु-रूपकं।

नाना-देवालया देवि ! तथैव दानवालयं । तृण-गुल्म-लता-लक्षं नाना-रूपाणि तत्र वै । जायन्ते च म्रियन्ते च पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना ।

।। इति निर्वाण-तन्त्रे सर्व-तन्त्रोत्तमोत्तमे हर-गौरी-सम्वादे योग-विवरणं नाम चतुर्थः पटलः ।।

पञ्चमः पटलः

विष्णु-लोक-वर्णनम्

श्रीशिव उवाच— एतत् पद्मस्योर्ध्व-देशे भौमाख्यं पङ्कजं शुभं। पत्र-षट्कं तथा वृत्तं चतुर्द्वार-विभूषितं। पद्म-मध्ये राज-कोषे भुवर्लोकं मनोहरं। सिन्दूर-सदृशं रक्तं वर्णेन शोभितं सदा। सिन्दूराभ-रक्ताभ्रेण निर्मितं चक्र-पाणिना। तस्योर्ध्वं निवसेद् विष्णुः श्रीवाणी वाम-दक्षिणे। ब्रह्मणा सृज्यते लोकः पाल्यते चक्र-पाणिना। वैकुण्ठं नाम तत्स्वर्गं नाना-देवालयं हि तत्।

वैकुण्ठस्य दक्ष-भागे गो-लोकं सर्व-मोहनं। तत्रैव राधिका देवी द्विभुजो मुरली-धरः। नारदाद्यैर्मुनि-गणैः शोभितं वेद-पारगैः। वैकुण्ठ-सदृशं स्थानं नास्ति ज्ञाने च मामके। अत्र मध्ये तथा बाह्ये ज्योतिषं परिपश्यति। नाना-भोग-युताः सर्वे नाना-रत्नेन भूषिताः। इन्द्राद्या देवताः सर्वे यथा सर्वं प्रपश्यति। तथैव भूमिगाः सर्वे तिष्ठन्ति स्तुति-हेतवे। महा-सत्व-मयं लोकं वेद-बाहु-विराजितं। पीताम्बरं शान्त-मूर्ति वन-माला-विभूषितं। एवं भक्त-जनं सर्वं वैकुण्ठे चोपशोभितं।

विष्णु-शब्दं विष्णु-गानं वैष्णवं विष्णु-रूपकं। विष्णु-गानं विना नास्ति वैकुण्ठे परमेश्वरि ! यद्रूपं धाम गो-लोकं तद्रूपं नास्ति मामके। ज्ञाने वा चक्षुषि किंवा ध्यान-योगे न विद्यते। शुद्ध-सत्व-मयं देवि ! नाना-वेदेन शोभितं। तत्रैव भाति कैलासस्तत्रैव ब्रह्मणः पुरं। वैकुण्ठ-नगरं तत्र तत्रैव रविकालयं। चन्द्रालयं हि तत्रैव कन्दर्प-निलयं प्रिये ! सर्वं देवालयं तत्र देव-कन्यादि-शोभितं। मध्य-देशे गोलोकाख्यं श्रीविष्णोर्भोग-मन्दिरं। श्री-विष्णोस्तत्व-रूपस्य यत्स्थानं चित्त-मोहनं। तस्य स्थान-स्य माहात्म्यं किं मया कथ्यतेऽधुना। यत्रैव सततं भाति द्वि-भुजो मुरली-धरः। निराकारो महा-विष्णुः साकारोऽपि क्षणे क्षणे। यदा साकार-रूपोऽसौ तदैव मुरली-धरः। तदा सत्व-मयो विष्णुर्भुवनं पाति निश्चयं। वैष्णवस्य महा-मोक्षो यत्रैव परमेश्वरि ! इति स्थानस्य माहात्म्यं संक्षेपेण मयोदितं। विस्तारेण च शक्नोमि जन्मान्तर-शतेन च।

वीज-कोषस्य बाह्ये तु वेष्टितं तोय-मण्डलम्। प्रमाणं सुन्दरं तोयं यदा क्षीरोद-सागरम्। धूम्रस्य ज्योतिषाकारं कोटि-चन्द्र-समद्युतिं। वलयाकार-रूपेण सु-शुभ्रं तोय-मण्डलम्। गङ्गादि-सरितः सर्वास्तत्रैव भान्ति सुन्दरि ! इन्द्रादि-देवताः सर्वे स्तूयमाना निरन्तरं। गन्धर्व-यक्ष-

नागादि-कूष्माण्डा भैरवास्तथा । नाना-सुख-विशेषेण सदा चैकाग्र-चेतसः । विष्णु-गानं प्रकुर्वन्ति स्तुति-भक्ति-परायणाः । वेद-गानं प्रकुर्वन्ति चतुर्वक्त्रेण वेधसः ।

मालवादि च षड्-रागाः षट्-त्रिंशद्रागिणी तथा । वेद-गानेन भाषन्ते मूर्तिमन्तः सदैव हि । मालवेनैव रागेण साम-गानं सदा प्रिये ! मल्लारेण सदाऽथर्वं वसन्तेन तथा पुनः । हिल्लोलेन यजुः-पाठं सदा कुर्वीत वेधसा । कर्णाटेनैव ऋग्वेदं श्रीरागेण तथा शिवे ! निर्दिष्ट-पाठमेतत्तु अनिर्दिष्टमतः परं । तत्रैव रागा वर्तन्ते सहस्राणि च षोडश । तत्रैव भान्ति तासां च सहस्राणि च षोडश । मुरारेर्मुरली-गानात् जायन्ते सर्व-तालकाः । तेन तालेन रागेण सदा गायन्ति वेधसः । तद्रागस्य विभागं हि कुर्वन्ति मुनयो जनाः । वसन्ताद्याश्च ऋतवस्तिष्ठन्ति तत्र सन्ततम् । नाना-ऋतु-प्रसूनेन भूषितो मुरली-धरः । तत्रैव राधिका देवी नाना-सुख-विलासिनी । वदन्ती मुरली-गानं कुरु कान्त ! प्रमोहनं । येन शब्देन कामस्य उत्पत्तिर्जायते सदा । तद्रागं चैव तत्तालं कुरु गानं प्रयत्नतः । एवमानन्द-संयुक्ता महा-वेश-विलासिनी । वाम-भागे सदा भाति राधिका भक्त-वत्सला । प्रार्थनैकां प्रकुर्वीत राधिका भक्ति-संयुता ।

श्रीराधिकोवाच—तव भक्ति-युता मर्त्यास्तथैव भक्ति-संयुताः। गो-लोकस्थं महा-विष्णुं द्वि-भुजं मुरली-धरं। सदानन्द-युतं देवं मम सङ्गे विराजितम्। एवं ध्यायति यो मर्त्यस्तस्योपायं तु कीदृशं ? तद्वदस्व विशे-षेण यद्यहं तव वल्लभा।

श्रीभगवानुवाच—ये यथा मां भजन्त्येव तेन मार्गेण सद्-गतिं। दास्यामि शृणु चार्वङ्गि! सदा त्वं भक्त-वत्सला। आदौ राधां ततः कृष्णं जपन्ति ये च मानवाः। तेषां च सद्-गतिं चात्र दास्यामि नात्र संशयः। गुरुणा भाव-मार्गेण मन्त्र-मार्गेण चैव हि। ये जना मां भजन्त्येव ते नरा मत्समाः सदा। या नारी माम-भेदेन भजते पुरुषं सदा। त्वत्समा सा सदा नारी जायते नात्र संशयः। भक्त्या वाप्यथवाऽभक्त्या जपन्ति युगलं यदि। तव भक्त्या प्रदास्यामि सद्-गतिं शृणु राधिके! सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं हि राधिके! मद्-भक्ता नैव गच्छन्ति कदाचिद् यम-मन्दिरं।

इति श्रुत्वा च सा देवी राधिका प्रेम-वत्सला। चाङ्के शेते महा-विष्णोः काम-भावेन पीडिता। विष्णु-लोकमिदं देवि! चापरं शृणु यत्नतः।

॥ इति निर्वाण-तन्त्रे सर्व-तन्त्रोत्तमोत्तमे
चण्डिका-शङ्कर-सम्वादे पञ्चमः पटलः ॥

षष्ठः पटलः

रुद्र-लोक-वर्णनम्

श्रीशङ्कर उवाच—एतत् पद्मस्योर्ध्व-देशे महा-पद्मं सुदुर्लभम् । दश-पत्रं नील-वर्णं सजलं व्योम-रूपकम् । डादि-फान्तैः सचन्द्रैश्च पङ्कजैश्चाति-शोभितं । तन्मध्ये वीज-कोणे निवसति सततं वह्नि-वीजं सुसिद्धं । बाह्ये तत्त्रैपुराख्यं नव-तपन-निभं स्वस्तिकं तत्त्रि-भागम् । स्वर्लोकाख्यमिदं देवि ! सर्व-देवैः प्रपूजितम् ।

माकारं वह्नि-वीजं च सदैव मेष-वाहनम् । रुद्रालयं हि तत्रैव महा-मोहस्य नाशनम् । भद्रकाली महा-विद्या वाम-भागेन शोभिता । भद्रकाली महा-विद्या सदा संहार-कारिणी । ब्रह्मणा सृज्यते लोकः पाल्यते विष्णु-रूपिणा । पर-देवो रुद्र-रूपः सदा संहार-कारकः । संहार-रुद्र-रूपेण भद्र-कालिकया सह । रुद्रस्य भावनाद् देवि ! किं न सिध्यति चण्डिके ! यद्रूपं कथितं पूर्वं गोलोकं सर्व-मोहनं । तस्माद्वै सर्वतोभावे रुद्र-लोकं चतुर्गुणम् ।

रुद्र-लोकं महा-स्वर्गं गो-लोकाद्वै चतुर्गुणम् । महा-मोक्ष-प्रदं नित्यं रुद्रं भस्माङ्ग-भूषणं । भद्र-काली महा-विद्या

रुद्रस्य वाम-देशके । विष्णुना पाल्यते यद्वत् काली-रूपेण युज्यते । अतः कालीं महा-देवीं सदैव मुरली-धरः । आराध्य बहु-यत्नेन वैकुण्ठाधिपतिर्भवेत् । गो-लोकाधिपतिर्देवि ! स्तुति-भक्ति-परायणः । काली-पाद-प्रसादेन स भवेल्लोक-पालकः । लोकानां रक्षणा-र्थाय सश्रीको मुरली-धरः । समाराध्य भद्र-कालीं गो-लोके निवसेत् तदा । प्रसादात् कालिकायाश्च युज्यते विष्णुना सदा । अतश्च पालको विष्णुर्महा-सत्व-परायणः ।।

।। इति श्रीनिर्वाण-तन्त्रे षष्ठः पटलः ।।

सप्तमः पटलः

महर्लोक-लक्षणम्

श्रीशिव उवाच—एतत् पद्मस्योर्ध्व-देशे विमलं पद्म-सुन्दरम् । शोभितं द्वादशैः पत्रैः शोण-वर्ण-समन्वितम् । वाञ्छातिरिक्त-फलदं शुद्ध-सिन्दूर-सन्निभम् । पद्म-मध्ये बीज-कोषे षट्-कोण-मण्डलं शुभम् । मण्डलस्य मध्य-देशे वायु-बीजं मनोहरम् । सजीवं वायु-बीजं च वेद-बाहु-विराजितम् । या विद्या भुवनेशानी त्रिषु लोकेषु पूजिता । ईश्वरस्य वाम-भागे सा देवी परितिष्ठति । महर्लोकमिदं भद्रे ! पूजा-स्थानं सुरेश्वरि ! अत्रैव मानसं यागं कुरुते योग-वित्तमः ।

सिन्दूरारक्तं चार्वङ्गि ! स्फाटिकैर्निर्मितं ततः । अतश्च मानवाः सर्वे ज्योतिः सम्परिपश्यति । सर्वावयव-संयुक्ता देवास्तिष्ठन्ति सन्ततम् । भूमिगाः परिपश्यन्ति चक्राकारं हि तेजसाम् । स्वर्लोक-गामिनः सर्वे साकारं परिपश्यति । अङ्ग-भेदं न पश्यन्ति स्थूल-रूप-निरीक्षणम् । तथैव भूमिगा लोकाः प्रचरन्ति मही-तले । तथैव देवताः सर्वाः स्वर्गे तिष्ठन्ति पार्वति !

भूर्लोके निवसेद् ब्रह्मा भुवर्लोके जनार्दनः । स्वर्लोके निवसेत् शम्भुः सदा संहार-कारकः । ब्रह्मा-

दीनां च ईशानः सर्व-कर्ता च ईश्वरः । सर्व-स्वामित्व-रूपं च सर्व-कर्ता सुरेश्वरः । सृष्टि-स्थिति-लयादीनां कर्ता च परमेश्वरः । गो-लोकं कथितं देवि ! यद्रूपं शोभित सदा । तस्माच्छत-गुणं देवि ! महर्लोकं सुसुन्दरम् । विस्तीर्णं च शत-गुणं सर्वं शत-गुणं शिवे ! महर्लोकस्य माहात्म्यं किं वक्तुं शक्यते मया । गो-लोकस्य शत-गुणं सर्वत्र परमेश्वरि ! महर्लोके वसेत् यो हि सामान्य-भाव-तत्परः । तस्मादेव शतांशैकं गो-लोके मुरली-धरः । तदाज्ञां प्राप्य सहसा सृज्यते पद्म-योनिना । तदाज्ञया पाति लोकान् द्वि-भुजो मुरली-धरः । एवं हि रुद्र-रूपेण संहरत्यखिलं जगत् । सर्व-कर्ता यतो देवि ! अतः स परमेश्वरः ।

ईश्वरः सर्व-कर्ता च निर्गुणस्यालयः शिवः । भुवनेशीं विना देवि ! स्पन्दितुं नैव शक्यते । पंगु-प्रायः सदा ईशो गन्तुं च नहि शक्यते । भुवनेशीं समाराध्य सर्व-स्वामी च ईश्वरः । अतएव महेशानि ! तथैव मोक्ष-दायिनी । विश्व-माता च सा देवी विश्व-पालन-कारिणी । मोक्षदा सर्व-लोकानां भुक्तिदा विश्व-मातृका । भुवनेशीं विना ईशः किञ्चित् कर्तुं न शक्यते । अतएव हि सा देवि ! मोक्षदा सर्व-रूपिणी । इति ते कथितं किञ्चित् महर्लोकस्य लक्षणं । समासेन परमेशानि ! अथान्यत् शृणु सादरं ।

॥ इति श्रीनिर्वाण-तन्त्रे सप्तमः पटलः ॥

अष्टमः पटलः

जनलोक-वर्णनम्

श्रीशङ्कर उवाच—अस्योर्ध्वे निर्मलं पद्मं सर्व-मोहन-कारणं। षोडशैः पत्रकैर्युक्तं मोहान्धकार-नाशनं। धूम्र-मध्ये यथा वह्निस्तथा ज्योतिर्मयं प्रिये! पद्म-मध्ये वराटे च जन-लोकं सु-सुन्दरं। महा-मोहान्ध-शमनं तद्-बाह्ये चन्द्र-मण्डलं। देव-वृन्दैर्गायकैश्च मुनिभिः परिशोभितं। गो-लोकस्य लक्ष-गुणमिह स्थानं सुदुर्लभं। देवत्वं च मनोज्ञं च विस्तीर्णं च तथा पुनः। सर्वं लक्ष-गुणं देवि! गो-लोकान्नात्र संशयः। बीज-कोषे मणि-द्वीपे षट्-कोण-यन्त्रमुत्तमं। यन्त्र-मध्ये च वृत्ताभं महा-सिंहार्द्ध-देहकं। तस्योपरि सदा गौरी दक्ष-भागे सदा-शिवः। त्रि-नेत्रः पञ्च-वक्त्रश्च प्रति-वक्त्रे त्रि-लोचनः। विभूति-भूषिताङ्गश्च रजताचल-सोदरः। व्याघ्र-चर्म-धरो देवः फणि-माला-विभूषितः। लोकानामिष्ट-दाता च लोकानां भय-नाशनः। लोकानां मुक्ति-जनको लोकानां ज्ञान-दायकः। आराधकस्य ब्रह्मत्व-दायको विष्णु-पूजितः। सर्वानन्द-करो देवः अर्द्ध-नारीश्वरो विभुः। क्वचित् ज्योतिर्मयो देवो क्वचिदाकार-वर्जितः। देवानां पूज्य-रूपश्च देवानां स्वामि-रूपकः। भक्तस्य मुक्तिदो

नित्यं विष्णुत्व-दायको विभुः। बिल्व-पत्रैः पूजकस्य निज-सायुज्य-दायकः। गो-लोकाधिपतिं कृत्वा भक्तं रक्षति यः शिवः। तस्य देवस्य माहात्म्यं विस्तारेण च किं प्रिये! या गौरी लोक-माता च शम्भोरर्द्धाङ्ग-धारिणी। त्रिगुणा सा महा-गौरी गुणैकेन पिनाक-धृक्। तस्याः सङ्गं समासाद्य सर्व-कर्ता सदाशिवः।

॥ इति श्रीनिर्वाण-तन्त्रे अष्टमः पटलः ॥

नवमः पटलः

तपोलोक-लक्षणम्

श्रीशङ्कर उवाच—एतत् पद्मस्योर्ध्व-देशे ज्ञान-पद्मं सुदुर्लभं । पत्र-द्वय-समायुक्तं पूर्ण-चन्द्रस्य मण्डलं । पद्म-मध्ये बीज-कोषे स्मरेच्चिन्ता-मणि पुरीं । तन्मध्ये नव-कोणं च यन्त्रं परम-दुर्लभं । शम्भु-बीजं हि तन्मध्ये साकारः हंस-रूपकः । हंसः परं-ब्रह्म-रूपः साकारः शिव-रूपकः । तारश्चक्रुर्वरारोहे ! निगमागम-पक्ष-वान् । शिव-शक्ति-पद-द्वन्द्वं विन्दु-त्रय-विलोचनं । विहारश्चास्य हंसस्य हेम-पङ्कज-पूरिते । एवं हंसो मणि-द्वीपे तस्य क्रोडे परः शिवः । वाम-भागे सिद्ध-काली सदानन्द-स्वरूपिणी । तस्याः प्रसादमासाद्य सर्व-कर्ता महेश्वरः । तपो-लोकमिदं भद्रे ! सर्व-देवस्य दुर्लभं । यत्र ब्रह्मादयो देवा ध्यान-योगं सदाभ्यसेत् । मनसापि न लभ्येत् योगेन तपसा न च । तपो-लोकं गो-लोकस्य चतुर्लक्ष-गुणं शिवे !

ब्रह्म-लोकेषु ये देवा वैकुण्ठे ये सुरादयः । शम्भु-लोके वसेद् यो यस्ते च भक्ति-परायणाः । तपसापि न लभ्येत तपो-लोकमतः शिवे ! तपो-लोक-समो नास्ति

लोक-मध्ये सुलोचने ! सालोक्यं महर्लोकः स्यात् सारूप्यं जन-लोकके । सायुज्यं तपोलोकेषु निर्वाणं हि तदूर्ध्वके । अतो ब्रह्मादयो देवास्तपो-लोकार्थिनः सदा । तस्य लोकस्य माहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ।

इति ते कथितं कान्ते ! स्वर्ग-षट्कस्य लक्षणं । यज्-ज्ञानादमरत्वं च जीवन्मुक्तश्च साधकः । यज्-ज्ञानाज्जननी-गर्भं न विशन्ति कदाचन । आयुरारोग्यमैश्वर्यं स प्राप्नोति न संशयः । पुराणानि च सर्वाणि मयैवोक्तानि पार्वति ! एतद्-रूपं च तन्मध्येऽव्यक्त-रूपो न विद्यते । गूढ़-ज्ञानं च तन्मध्ये अतः किञ्चिन्न बुध्यते । एवं हि वेद-शास्त्रेषु ज्ञान-मध्ये सुलोचने ! शब्द-ज्ञानं यतो नास्ति अतः किञ्चिन्न बुध्यते । अष्टादश-पुराणानि साङ्गं वेत्ति च यो नरः । तस्य स्थाने पुराणानां सदा श्रवणमाचरेत् । मूढे चाल्प-पाठज्ञे च न श्रोतव्यं कदाचन । शास्त्रस्य लक्षणं ह्येतत् व्याख्या चान्यत् प्रकाशते ।

शब्दः ब्रह्म-स्वरूपश्च मम वक्त्राद् विनिर्गतः । सन्देहो नैव कर्तव्यो यदि मुक्तिं प्रयच्छसि । सन्देहात् पामरो याति रौरवं पितृभिः सह । ज्ञानं च निर्मलं कृत्वा बुद्धिं च निर्मलां ततः । महा-भक्ति-युतो भूत्वा सर्व-प्राणि-हिते रतः । शब्द-ब्रह्म-मयं देवि !

शृणोति तन्त्र-विद् यदि । तदा मुक्तिमवाप्नोति सत्यं सत्यं न संशयः । अष्टादश-पुराणानि श्रवणेनैव यत्फलं । चतुर्वेदानि साङ्गानि श्रवणेनैव यत् फलं । मेरु-तुल्यं सुवर्णं च गुरवे ब्रह्म-रूपिणे । स-शस्यां परमेशानि ! सप्त-द्वीपां वसुन्धरां । प्रदद्यात् भक्ति-भावेन यदि स्याद् वेद-पारगः ! तस्माद्वै परमेशानि ! फलं बहु-विधं शिवे ! अस्य तन्त्रस्य चार्वङ्गि ! शृणोति पटलं यदि । तत्फलात् कोटि-गुणितं फलः स लभते ध्रुवं ।

॥ इति श्रीनिर्वाण-तन्त्रे सर्व-तन्त्रोत्तमोत्तमे नवमः पटलः ॥

दशमः पटलः

सत्य-लोक-कथनम्

श्रीशङ्कर उवाच——ज्ञान-पद्मस्योर्ध्व-देशे सहस्र-दल-पङ्कजं । अधो-वक्त्रं महा-वक्त्रं सुमेरोर्मूर्ध्नि संस्थितं । यस्य पत्रं महेशानि ! सर्व-शक्ति-समन्वितं । शुक्लं रक्तं तथा पीतं कृष्णं हरितमेव च । नाना-विचित्र-रूपेण नाना-वर्णेन शोभितं । शुक्लं क्षणे क्षणे रक्तं क्षणे पीतं सुशोभनं । कस्मिन् क्षणे शुक्ल-वर्णं हरितं वर्णमुत्तमं । चित्र-रूपं च चार्वङ्गि ! धत्ते कस्मिन् क्षणे प्रिये ! एवं नाना-विधैर्देवि ! तत्पद्मं शोभितं सदा ।

तथैव गो-लोकं धाम प्रति-पत्रे तथैव हि । गो-लोकस्य पतिस्तत्र भक्ति-भाव-परायणः । कैलासाधि-पतिर्देवि ! ध्यान-योगं सदाभ्यसेत् । एवं ब्रह्मादयो देवा इन्द्राद्यास्त्रि-दशेश्वराः । स्तुति-भक्ति-पराः सर्वे दिव्य-भावैः सदा स्थिताः । लक्षं लक्षं महेशानि ! तथैव मुरली-धरः । शत-लक्षं शिवस्तत्र ब्रह्मा लक्ष-शतं प्रिये ! प्रत्यहं परमेशानि ! ब्रह्माण्डा बहवो भवेत् । तन्मध्ये स्थापयेद् ब्रह्मा तथैव कमला-पतिं । शिवं बहु-विधा-कारं तत्रैव स्थापनं चरेत् । एवं हि परमेशानि ! नाना-शक्ति प्रविन्यसेत् । प्रति-ब्रह्माण्ड-मध्ये तु ब्रह्मादि-

देवता-त्रयं । नाना-शक्ति-युतं कृत्वा ब्रह्माण्ड-स्थापनं चरेत् । ब्रह्म-पद्मे पृथिव्यां तु वर्तन्ते मानुषादयः । ते सर्वे देवि ! ब्रह्माण्डास्तन्मध्ये भुवनानि च । पाताल-सप्तकं तत्र तत्रैव स्वर्ग-सप्तकं ।

एवं क्रमात् सर्व-देहे भुवनानि चतुर्दश । प्रति-देहं परेशानि ! ब्रह्माण्डं नात्र संशयः । कथितं बाह्य-देशस्य ब्रह्माण्डस्य च लक्षणं । यन्मध्ये वर्तते साक्षात् भुवनानि चतुर्दश । तदेव विग्रहं देवि ! महा-ब्रह्माण्ड-मध्यगं । एवं बहु-विधं देवि ! तत्र ब्रह्माण्डके क्षितौ । वृहद्-ब्रह्माण्डे ये सर्वे तेऽपि जन्य-शरीरिणः । पृथिव्यां तेऽपि वर्तन्ते जन्तोराकार-विग्रहाः । महा-ब्रह्माण्ड-मध्ये तु वृहद्-ब्रह्माण्डस्तिष्ठति । तन्मध्ये जन्तवो देवि ! तन्मध्ये भुवनानि च । सृष्टि-मार्गेण भेदोऽस्ति स्थूल-सूक्ष्मादि-भेदतः । महा-ब्रह्माण्डके यद् यत् प्रकारं परमेश्वरि ! तत्तत् सर्वं हि देवेशि ! वृहद् ब्रह्माण्ड-मध्यतः । तद्रूपं च देह-मध्ये भुवनानि चतुर्दश । सृष्टि-प्रकार-ब्रह्माण्डे भेदो नास्ति सुनिश्चितं । स्थूलः क्षुद्रो हि चार्वङ्गि ! भेदकः परिचायकः । पद्म-मध्ये वोज-कोषे भुवनानि चतुर्दश । स्थानं बहु-विधाकारं सर्व-देवस्य चाश्रयं । तन्मध्ये सत्य-लोकं च महा-रुद्रस्य कारणं । दशकास्तेन स्वर्गेण निर्मितं चक्र-पाणिना । दिक्षु तोय-मण्डलं च

यथा पूर्णेन्दु-मण्डलं । परितः परिजानीयान्मध्ये कल्पद्रुमं पुनः। कल्पवृक्षस्य निकटे ज्योतिर्मण्डलमुत्तमं। उद्यदादित्य-सङ्काशं चतुर्द्वार-विभूषितं। मन्द-वायु-समायुक्त-गन्ध-धूपैरलंकृतं। तन्मध्ये वेदिका देवि ! रत्न-सिंहासनं प्रिये ! महा-काली परमात्मा चणकाकार-रूपतः। माययाच्छादितात्मानं तन्मध्ये सम-भागतः। महा-रुद्रः स एवात्मा महा-विष्णुः स एव हि। महा-ब्रह्मा स एवात्मा नाम-मात्र-विभेदकः। एक-मूर्तिस्त्रयं नाम ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः।

नाना-भावे मनो यस्य तस्य मोक्षो न विद्यते। ब्रह्माण्डास्तत्र जायन्ते लक्षं लक्षं सुलोचने ! तत्र ब्रह्मा तत्र हरिस्तत्र रुद्रः प्रविन्यसेत्। एवं ब्रह्माण्ड-निर्माणं कृत्वा विष्णुः सनातनः। सजीव-मूर्त्ति निर्माय यथा जन्तोश्च विग्रहं। एवं ब्रह्माण्डं विविधं नित्यं सृजति निर्गुणः। निर्गुणे विन्दु-रूपश्च सिद्धि-कारणमेव हि। केचिद् वदन्ति स ब्रह्मा केश्चिद् विष्णुः प्रकथ्यते। केचित् रुद्रो महा-पूर्व एको देवो निरञ्जनः। आद्या-शक्ति-युतो देवश्चणकाकार-रूपकः। इन्द्र-जालस्य दीपाभः चन्द्र-सूर्याग्नि-रूपकः। महा-क्षोभो निर्विकारः सत्यं सत्यः सनातनः। सत्य-लोके बीज-कोषे चिन्तामणि-गृहे शुभे। ध्यायेन्निरञ्जनं देवि ! रत्न-सिंहासनोपरि। तस्यान्तिके

निज-गुरुं पूजा-ध्यान-परायणं । स-कान्तां 'पूजयेद् देवं रजताचल-सोदरं । सु-वक्त्रां चारु-वदनां सु-प्रकाश-स्वरूपिणीं । एवं कान्ता-युतं देवं स्व-मूर्ध्निस्थं विचिन्त-येत् । यथा दर्पण-गर्भे तु परिपश्यन्ति पर्वतं । सहस्रारे महा-पद्मे तथा देवं विचिन्तयेत् । परं ब्रह्मालयं ह्येतत् परं मोक्षालयं प्रिये ! निर्गुणस्यालयं साक्षाद् महा-काल्यालयं शिवे ! तथैव वर्तते नित्यो निराकारश्च निश्चलः । यस्य रूपं परानन्दं परापर-जगत्पतिं । नित्यानन्द-परा देवी काली काल-प्रकाशिनी । आद्या-शक्तिर्महा-काली देव-निर्माण-कारिणी । जायते च क्षितौ ब्रह्मा यथा पृथ्व्यां प्रलीयते । तोयाच्च बुद्बुदं जातं यथा तोये विलीयते । जलदे तड़िदुत्पन्ना लीयते च यथा घने । तथा ब्रह्मादयो देवाः कालिकायां प्रजायते । तथा प्रलय-काले तु पुनस्तस्यां प्रलीयते ।

शक्ति-ज्ञानं विना देवि ! मुक्तिर्हास्याय कल्पते ! एकांशेन भवेद् ब्रह्मा एकांशेन जनार्दनः । एकांशेन भवेत् शम्भुः कालिकायाः सुलोचने ! अपरा सा महा-काली नद्यादीनां समुद्र-वत् । गोष्पदे च यथा तोयं ब्रह्माद्या देवतास्तथा । गो-पदं किं न जानीयात् समुद्रस्य जलं शिवे ! तेन ब्रह्मा न जानाति विष्णुः किं वेत्ति शङ्करः । सृष्टि-कर्ता यदा काल्यां तन्यन्ते च सुरादयः ।

तथा प्रलय-काले तु पुनस्तस्यां प्रलीयते । अतो निर्वाणदा काली पुरुषः स्वर्ग-दायकः । दक्षिणस्यां दिशि स्थाने संस्थितश्च रवेः सुतः । काली-नाम्ना पलायेत भीति-युक्तः समन्ततः । ततः सा दक्षिणा नाम्ना त्रिषु लोकेषु गीयते । पुरुषो दक्षिणः प्रोक्तो वामा शक्तिर्निगद्यते । वामाया दक्षिणा जिह्वा महा-मोक्ष-प्रदायिनी । अतः सा दक्षिणा नाम्ना त्रिषु लोकेषु गीयते । वेश्वरी या महा-विद्या कालिका जगदम्बिका । साकार-रूपा सा देवी चणकाकार-रूपिणी । हस्त-पादादि-रहिता चन्द्र-सूर्याग्नि-रूपिणी । तस्याः स्थानं हि कथितं सत्य-लोकं वरानने ! यत्स्थानं सर्व-देवस्य प्रार्थनीयं सदानघे ! तस्य स्थानस्य माहात्म्यं किं मया कथ्यतेऽधुना । सहस्र-दल-पद्मस्य चैक-पत्रे सुलोचने ! सहस्र-गो-लोकं धाम अतो वक्तुं न शक्यते । जन्मान्तर-सहस्रेण जिह्वा-कोटि-शतेन च । तद्-वक्तुं नहि शक्नोमि एक-पत्रस्य शोभनं । अतस्त्वं हि वरारोहे ! विरता भव पार्वति !

किञ्जल्क-मध्ये सा देवी किं वक्तुं शक्यते मया । तन्मध्ये कर्णिकां देवि ! तन्मध्ये वीज-कोषकं । वीज-कोषस्य मध्ये तु सुधा-सागरमुत्तमं । लक्ष-योजन-विस्तारं सु-शुभं तोय-मण्डलं । तन्मध्ये तु मणि-द्वीपं सहस्र-

योजनं शिवे ! परितः पारिजातानि कदम्ब-वनमुत्तमं । मध्ये कल्पद्रुमं तत्र ज्योतिर्मन्दिरमुत्तमं । चतुर्द्वार-समायुक्तं हेम-प्राकार-भूषितं । मन्द-वायु-समायुक्तं गन्ध-धूप-समन्वितं । देव-कन्या-सहस्राणि परिचर्या-परायणाः । तन्मध्ये वेदिकां देवि ! पञ्चाशदक्षरा-त्मिकां । तस्योपरि महेशानि ! रत्न-सिंहासनं शिवे ! महा-कालो महा-रुद्रश्चणकाकार-रूपकः । इन्द्र-जालस्य दीपाभं महा-ज्योतिः सनातनं ।

इति ते कथितं कान्ते ! सप्त-स्वर्गं क्रमेण हि । श्रुत्वा गोपय यत्नेन न प्रकाश्यं कदाचन । अति-स्नेहेन देवेशि! तव स्थाने प्रकाशितं । संक्षेपेण मयाऽप्युक्तं विस्तारे नहि शक्यते ।।

।। इति श्रीनिर्वाण-तन्त्रे सत्य-लोक-कथनं
नाम दशमः पटलः ।।

एकादशः पटलः

तत्त्व-ज्ञान-विवेचनम्

श्रीचण्डिकोवाच—त्वत्प्रसादान्महादेव ! पवित्राहं न चान्यथा । इदानीं श्रोतुमिच्छामि तत्त्व-ज्ञानं सुदुर्लभं ।

श्रीशङ्कर उवाच—तत्त्व-ज्ञानादि-कथने न शक्यं मम मानसं । एतत्प्रशंसा-श्रवणे विरता भव सुन्दरि ! येन ज्ञान-प्रसादेन विष्णुः सत्त्व-गुणाश्रयः । शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि ब्रह्मा लोक-पितामहः । तत्त्व-ज्ञान-प्रसादेन शम्भुः संहार-कारकः । अन्ये मुक्ताश्च ये सर्वे तेऽपि तत्त्व-प्रसादतः । तत्त्व-ज्ञानं परेशानि ! कथं वा कथ्यते मया । विरता भव देवेशि ! न वै पृच्छ पुनः पुनः ।

इति तस्य वचः श्रुत्वा शङ्करो वाक्यमब्रवीत् ।

श्रीचण्डिकोवाच—यदि तत्त्वं महादेव ! न मे कथयसि विभो ! प्राण-त्यागं करिष्यामि पुरतस्ते न संशयः ।

श्रीशङ्कर उवाच—शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि तत्त्वं परम-दुर्लभम् । श्रुत्वा गोपय यत्नेन स्व-योनि-रिव सुन्दरि ! मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रां मैथुनमेव

च । पञ्च-तत्त्वमिदं देवि ! निर्वाण-मुक्ति-हेतवे । अष्टैश्वर्यं परं मोक्षं मद्य-पानेन शैलजे ! मांस-भक्षण-मात्रेण साक्षान्नारायणो भवेत् । मत्स्य-भक्षण-मात्रेण कालो-प्रत्यक्षता भवेत् । मुद्रा-सेवन-मात्रेण तु पूज्यो विष्णु-रूप-धृक् । मैथुनेन महा-योगी मम तुल्यो न संशयः । तन्त्रान्तरे तु देवेशि ! मयैव कथितं पुरा । माहात्म्यं चास्य धर्मस्य पुरैव कथितं मया । तत्व-ज्ञानमिदं कान्ते ! निर्वाण-मुक्ति-कारकं ।

एकत्र पञ्च-तत्त्वं तु यत्रैव मिलितं भवेत् । तत्रैव तु प्रगच्छन्ति नरा मत्सदृशाः सदा । सा नारी कालिका-रूपा मृते तस्यां प्रलीयते । ये नराः साधु-रूपाश्च तत्त्व-ज्ञान-परायणाः । जीवन्मुक्ताश्च ते प्रोक्ता ब्रह्म-रूपा न चान्यथा । सायुज्यादि-महा-मोक्षं नियुक्तं क्षत्रियादिषु । ब्राह्मणः परमेशानि ! यदि तत्त्व-परा-यणः । सत्यं सत्यं पुनः सत्यं परे तत्त्वे प्रलीयते । यथा तोयं तोय-मध्ये लीयते परमेश्वरि ! तथैव तत्त्व-सेवायां लीयते परमात्मनि ! इति ते कथितं कान्ते ! तत्व-ज्ञानं हि मोक्षदं । येन ज्ञान-प्रसादेन मोक्ष-सिद्धिर्न संशयः ।

क्षितिं विना यथा नास्ति संस्थितेः कारणं सदा । तोयं विना यथा नास्ति पिपासा-नाश-कारणं । तमो-हन्ता यथा नास्ति भास्करेण बिना प्रिये ! विना

वह्नि-प्रयोगेण यथा किञ्चिन्न पश्यते। विना तन्त्रेण देवेशि ! सुधा-वृष्टिर्न जायते। मातृ-गर्भं विना कान्ते ! उत्पत्तिर्न यथा भवेत्। तत्व-ज्ञानं विना देवि ! तथा मुक्तिर्न जायते। अतएव महेशानि ! गोपनं कुरु यत्नतः।

दिव्य-भाव-युतानां च तत्व-ज्ञानं सदा भवेत्। वीर-भाव-युतानां वै तत्त्वं सेव्यं सदानघे ! न पशोरालये कुर्यान्न पशोर्ज्ञान-गोचरे। अन्यथा पक्षि-कीटस्य दर्शने नहि कारयेत्। सिद्धेर्वर्त्म शृणु प्राज्ञे ! यत्कृत्वा सिद्धिमाप्नुयात्। एकां शक्तिं समानीय एकैकः साधकः सदा। पूजयेद् बहु-यत्नेन पञ्च-तत्त्वेन कौलिकः। एवं कृत्वा लभेत् सिद्धिं नान्यस्य दृष्टि-गोचरे। श्री-चक्र-पूजा यत्रैव तत्रैव ध्यान-सिद्धये। सिद्धिर्न जायते तत्र कदाचिदन्य-सन्निधौ। तत्रैव कामना-सिद्धिर्यत्र चक्रं प्रपूजयेत्।

आयुरारोग्यमैश्वर्यं श्रीचक्र-पूजनाल्लभेत्। कीर्तेर्वृद्धिर्यशो-वृद्धिर्मुक्ति-भोगी न संशयः। वांछा-सिद्धिर्ज्ञान-सिद्धिर्देव्याः प्रीतिश्च जायते। श्रीचक्र-पूजां यः कुर्यात् स एव शम्भुरव्ययः। अश्वमेध-सहस्राणि वाजपेय-शतानि च। इष्टवा यत्फलमाप्नोति तत्फलं कौलिकार्चने। वापी-कूप-तडागादि दत्वा यत्फलमाप्नुयात्। तत्फलात् कोटि-गुणितं यदि चक्रं प्रपूजयेत्।

तदन्नं मेरु-वत्तुल्यं विन्दुः सिन्धु-समोपमः। पुष्पं च मेरु-सदृशं यदि चक्रं प्रपूजयेत्।

तन्मध्ये वर्त्तते देवि ! यदि व्याधि-युतो नरः। शिव-ब्रह्मा-प्रपूज्यो हि भ्रान्ति तत्र विवर्जयेत्। सूर्यस्य प्रतिबिम्बं यत् तत्तोयं परिपश्यति। गङ्गा-तोये यथा सूर्यो हीन-तोये तथा पुनः। सूर्यस्य दूषणं नास्ति सूर्यैकः परितिष्ठति। तथैव परमेशानि ! साधके नास्ति दूषणं। मन्त्र-धारण-मात्रेण सदात्मा शोभनो भवेत्। अतएव महेशानि ! दूषणं नास्ति रेतसि। रेतः पवित्रं परमं शक्तिर्मोक्षस्य कारणं। पूजा-हीना च या शक्तिर्जप-हीना च या पुनः। धृत्वा साधक-रेतश्च सा नारी कालिका स्वयं। भ्रान्तिरत्र न कर्तव्या यदि मुक्ति समिच्छति। या नारी भ्रान्ति-संयुक्ता आगता चक्र-मण्डले। सप्त-जन्मनि सा नारी चाण्डाली पति-वर्जिता। एवं विरूपां यां नारीमवज्ञां कुरुते यदि। धन-पुत्रैर्वर्जितश्च स चाण्डालो न चान्यथा।

इति ते कथितं कान्ते ! तत्त्व-ज्ञानं विमोक्षदं। येषां देहे महेशानि ! तत्त्व-ज्ञानं मयोदितं। ते पुनर्जननी-गर्भे न विशन्ति कदाचन। जीवन्मुक्ताश्च ते प्रोक्ताः शिव-रूपाश्च ते नराः। शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि कौलिकस्य

द्वादशः पटलः

विष्णोस्तत्त्व-कथनम्

श्रीचण्डिकोवाच—शृणु नाथ ! परानन्द ! मम प्राणेश्वर प्रभो ! वैष्णवस्य यथा तत्त्वं तन्मे ब्रूहि जगत्पते !

श्रीशिव उवाच—शृणु तत्त्वं वरारोहे ! वैष्णवस्य त्रिलोचने ! गुरु-तत्त्वं मन्त्र-तत्त्वं वर्ण-तत्त्वं सुरेश्वरि ! देव-तत्त्वं ध्यान-तत्त्वं पञ्च-तत्त्वं वरानने ! तत्रादौ श्रीगुरोस्तत्त्वं स्नेहाद् वक्ष्यामि पार्वति ! सतैलं वर्तिका-युक्तं देहस्थ-ब्रह्म-तैजसं । गुरुणा मन्त्र-दानेन तत् सूत्रं दीपितं भवेत् । देवतायाः शरीरं हि बीजादुत्पद्यते ध्रुवं । अतएव हि तस्यात्मा देव-रूपो न संशयः । ईश्वरस्य तु यद्-वीर्यं तदेव अक्षरात्मकं । तेन वर्णा-

---

च लक्षणं । यस्मिन् देशे तु यद्-द्वारो निर्दिष्टो मन्त्र-साधने । तद्-द्वारेण विशिष्टो यः कौलिकः स च कीर्तितः । शैवे शाक्ते गाणपे च सौरे चान्द्रे सुलोचने ! तत्त्व-ज्ञानमिदं प्रोक्तं वैष्णवे शृणु यत्नतः ।

॥ इति श्रीनिर्वाण-तन्त्रे तत्त्व-विवरणं नाम
एकादशः पटलः ॥

त्मकं देहं जन्तोरेव संशयः। मन्त्र-वर्णे च ते वर्णा लीयन्ते परमेश्वरि ! वर्ण-तत्त्वमिदं देवि ! मम सर्वं स्वयं भवेत्। स्वयं देवो न चान्यस्मिन्निर्मलो देव-रूपकः। सर्वत्र देवतां ध्यायेत् तृण-गुल्म-लतादिषु। ध्यानेन लभते सर्वं ध्यानेन विष्णु-रूपकं। ध्यानेन सिद्धि-माप्नोति विना ध्यानैर्न सिद्ध्यति।

इति ते कथितं कान्ते ! वैष्णवस्य सुरेश्वरि ! यज्-ज्ञानादमृतत्वं च विष्णु-रूपो भवेन्नरः। यः कुर्यात् परमेशानि ! तत्त्व-ज्ञानं मयोदितं। स्वर्ग-मार्गो भवे-न्मत्तो विष्णु-लोके वसेत् सदा। इति भक्ति-युतो मर्त्यो मनसा चिन्तयन् सदा। ते नरा नहि गच्छन्ति कदा-चिन्मम मन्दिरे।

इति ते कथितं तत्त्वं वैष्णवस्य सुरेश्वरि ! यज्-ज्ञानादमरत्वं च लभते नात्र संशयः।

॥ इति निर्वाण-तन्त्रे विष्णोस्तत्व-कथनं नाम
द्वादशः पटलः ॥

त्रयोदशः पटलः

संन्यास-विवरणम्

श्रीचण्डिकोवाच—सृष्टयात्मकं दशार्णं च पुरैव कथितं तु मे। प्रकाश-रूपे तन्मन्त्रं कथयस्व दया-निधे !

श्रीशिव उवाच—श्रृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि मन्त्रं दशाक्षरं परं। यस्य श्रवण-मात्रेण मूढोऽपि विष्णु-रूप-धृक्। पुं-मन्त्रो यदि देवेशि ! शक्ति-मन्त्रं जपेद् यदि। अज्ञात्वा तन्महा-मन्त्रं स भवेद् ब्रह्म-राक्षसः। अज्ञात्वा तन्महा-मन्त्रं तत्त्व-ज्ञानी भवेद् यदि। तथापि नरकं गच्छेदिति देवस्य सम्मतं। श्रृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि दशार्णं मन्त्रमुत्तमं।

माया-बीजं वधू-बीजं लक्ष्मी काली च पाशकं।
गगनं पक्षि-बीजं च वह्नि-कान्तां ततः प्रिये !

इति ते कथितं चण्डि ! दशाक्षरमनुत्तमं। यज्-ज्ञानादमरत्वं च लभते नात्र संशयः। अस्य ग्रहण-मात्रेण नरो नारायणो भवेत्। अस्य प्रसादेन दण्डी सद्यो निर्वाणतां व्रजेत्। दण्डोपरि जपेदेतत् दशार्णं परमेश्वरि ! अस्य मन्त्रान्महा-मन्त्रा जायन्ते न कदाचन। सर्वे देवाः स-दाराश्च दशार्णाज्जायते ध्रुवं।

महा-विद्योपासकश्च दशार्णं नहि पश्यति। इह लोके दरिद्रश्च परे च ब्रह्म-राक्षसः। तस्माद् यत्नेन देवेशि! दशार्णं श्रावयेद् गुरुः। केवलं श्रवणं कुर्यान्न जपेत् साधकोत्तमः। यः श्रावयेद् दशार्णं च स नरो गुरुरुत्तमः। मन्त्र-दाता यथा देवि! तथैव स गुरुः स्मृतः। दशार्ण-दाता यो देवि! स एव परमो गुरुः। यथैव च तरङ्गिण्या न समाः सकलापगाः। दशार्णस्य समो नास्ति मन्त्रोऽपि सुर-पूजिते। त्वत्समा यदि नारी च मत्समः पुरुषोऽस्ति सः। दशार्णस्य समं मन्त्रं कथयामि वरानने! दशाकार्णस्य स्वर्गस्य सदृशं मोहमस्ति च। दशार्णस्य समं मन्त्रं कथयेयुस्तदा प्रिये! श्रीप्रसादः अयं मन्त्रो दशार्णः परमेश्वरि! ऊर्ध्वाम्नाय-महा-तन्त्रे कथयामि वरानने!

अतः परं प्रवक्ष्यामि यद्रूपं दण्ड-धारणं। साधु-रूपो गृहस्थश्च ब्राह्मणो ब्रह्म-वादिनः। सर्व-माया-परित्यक्तः सदा धर्म-परायणः। जितेन्द्रियो जित-क्रोधः समत्वं सर्व-जातिषु। पुत्रे रिपौ समत्वं च समं स्वर्गे च पार्थिवे। दया-भावश्च सर्वत्र पुत्रे मित्रे रिपौ भवेत्। लाभालाभे जये नाशे निन्दायां पौष्टिके तथा। काये प्राणे न सम्बन्धः सर्वदा सम-भावुकः। ब्रह्म-ज्ञानं विना ज्ञानं यस्य चित्ते न विद्यते। संन्यास-धर्मस्तस्यैव नान्यस्य सुर-पूजिते! संन्यास-धारणं कार्यं

विप्रस्य मुक्ति-हेतवे । यो विप्रो धारयेद् दण्डं सैव नारायणः स्वयं। चतुर्भुजाः प्रजायन्ते दण्ड-धारण-मात्रतः । सर्व-लक्षण-संयुक्तो ब्राह्मणो गमनं चरेत् । गत्वा च दण्डिनं दृष्ट्वा प्रणमेत् दण्ड-वत् क्षितौ ।

त्वमेव देव-देवेश ! त्वमेव त्राण-कारकः ।
त्वमेव जगतां बन्धुः त्राहि मां शरणागतं ।।

इति श्रुत्वा दण्ड-धारी पप्रच्छ सादराञ्जलिं । कस्त्वं कस्य सुतस्त्वं हि कथमागमनं वद । श्रुत्वा तद्वचनं विप्रः प्रोवाचात्म-निवेदनं । विप्र-वंशे समुद्-भूतः ह्यमुकोऽहं विवेकवान् । नास्ति मे पितरौ साक्षाद् नास्ति मे स्त्री-सुतादयः । मृतौ च माता-पितरौ मृता भ्रात्रादयः सुताः । पश्चात् स्व-कान्ता-नाशे तु ह्यहमत्यन्त-ताप-वान् । अतएव हि भो स्वामिन् ! देहि मे परमाश्रयं । सत्यं कुरु द्विज-श्रेष्ठ ! यदुक्तं वं भवान्तिके । मिथ्या-भाषण-दोषेण ब्रह्म-वर्त्म-विव-र्जितः । भवत्येव न सन्देहो द्विज ! मत्पुरतो वद । स्थितायां यौवनायां च कान्तायां परमेश्वरि ! सर्वं हि विफलं तस्य यः कुर्याद् दण्ड-धारणं । पितरौ विद्येते देवि ! यः कुर्याद् दण्ड-धारणं । संन्यासं विफलं तस्य रौरवाख्यं स गच्छति । विद्यते बाल-भावे च यस्य

कान्ता सुतस्तथा । संन्यास-धारणं तस्य वृथा हि परमेश्वरि ! स गुरुश्चापि शिष्यश्च रौरवाख्यं प्रगच्छति । इत्यादि दृढ़-वाक्यं तु श्रुत्वा दण्डी जितेन्द्रियः । संन्यास-दानं तस्यैव दद्यान्मुक्तिं च शाश्वतीं ।

आदौ दशाक्षरं मन्त्रं प्रथमं श्रावयेद् गुरुः । तत् श्रुत्वा च महा-वर्त्म-गमनं कारयेत् ततः । क्रोशं वा क्रोश-युग्मं वा वेगेन गमनं चरेत् । गुरुणा सह शिष्येण पृष्ठे पृष्ठे विधावयेत् । तिष्ठ तिष्ठ महाबाहो ! मां त्यक्त्वा नहि गच्छतु । शिष्यः परम-हंसस्त्वं त्वत्समो नास्ति भू-तले । क्षन्तव्यमपराधं मे त्वमेव विष्णु-रूप-धृक् । त्वमेव जगतां बन्धुः त्वमेव सर्व-पूजितः । त्वमेव परमो हंसस्तिष्ठ तिष्ठ तु मा व्रज ।

स शिष्यो दण्डिनं देवि ! इति वाक्यं वदेद्यतः । अतः स परमो हंसः पथिकः प्रथमोदितः । तस्यैव दर्शनार्थाय चान्तरीक्षे च देवताः । सस्त्रीकाः परिवाराश्च आयान्ति दिग्विदिक्षु च । एतस्मिन् समये दण्डी शान्तयेत् शिष्यमुत्तमं । फुत्कारं बहुशो दत्वा मन्त्रेणानेन सुव्रते । फुत्कारैर्वायु-योगैश्च पुनः प्राणे नियोजयेत् । जन्मान्तरं तु तस्यैव तत्क्षणे जायते किल । जन्मान्तरं समालोक्य संस्कारमाचरेद् गुरुः । कुण्डान्तिके

समानीय अन्न-प्राशनमाचरेत् । अमुकस्त्वं समाभाष्य पुष्पं वह्नौ विनिक्षिपेत् । इति नाम्ना तु संस्थाप्य महा-संस्कारमाचरेत् । ततोऽपि दण्डिना देवि ! शिष्याय ज्ञान-हेतवे । श्रृणु शिष्य ! महाभाग ! मद्वाक्यं हृदयं कुरु । जन्मान्तरं तु तस्यैव पृथिव्यां नाधिकारिता । मृत-देह-स्वरूपोऽयं शरीरोऽयं न संशयः । विरतो भव सर्वत्र तोयाद्याहार-चेष्टया । ब्रह्मणेऽपि च यद्-दत्तं तन्मात्र भोजनं तव । पञ्च-तत्वं समासेव्यं गुप्त-भावेन पार्वति ! सदैव मानसीं पूजां सदा मानस-तर्पणं । त्रि-सन्ध्यं मानसं यागं नाभि-कुण्डे प्रयत्नतः । सदैव मानसं भोगं त्यागं कुरु प्रयत्नतः । षड्-वर्गेषु जितो भूत्वा नरो नारायणः स्वयं । भवत्येव न सन्देहो दण्ड-धारण-मात्रतः । पितृ-वंशे सप्त-दश मातृ-वंशे त्रयोदश । कान्तायाः सप्तमश्चैव लक्ष्मी-नारायणो भवेत् ।

इति श्रुत्वा वचस्तस्य शिष्यश्चैतदब्रवीद् वचः । यदुक्तं मयि मुक्त्यर्थं तत् करोमि निरन्तरं । पञ्च-तत्वं सदा सेव्यं कस्माद् भावाद् वदस्व मे । यत्रैव वर्तते दण्डी बहु-शिष्य-समावृतः । तत्र गत्वा प्रयत्नेन पञ्च-तत्व-विचेष्टया । अथवा वीर-मध्ये तु यत्नेन गमनं चरेत् । तत्त्व-ज्ञानी गृहस्थस्य सन्निधाने व्रजेत् किल ।

सुदूरमपि गन्तव्यं यत्रास्ते कुल-नायकः। भिक्षा कार्या न च स्वार्थं देवतायाः कृते पुनः। आचार्य-पत्नीं दृष्ट्वा तु भिक्षां कुर्यात् समाहितः। हे मातर्देहि मे भिक्षां कुण्डलीं तर्पयाम्यहं। एवमुक्त्वा ततो दण्डी महा-संस्कार-माचरेत्। कुण्डान्तिके समानीय होमयेद् विधि-पूर्वकं। ततो हुनेत् करं धृत्वा आज्यैरप्याहुतिं पुनः। विपरीत-क्रमेणैव कुर्याद् बन्धु-विशोधनं।

ततः कुर्यात् प्रयत्नेन अन्तर्यज्ञोपवीतकं। शिखां तस्य शिखा-मन्त्रैः पूग-मध्ये निधापयेत्। मूलेन यज्ञ-सूत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत्। घृतैश्च मृत्तिका-पूगं विलिप्य शोषयेत् ततः। तत्पूगं मूल-मन्त्रेण दण्ड-मध्ये विनिक्षिपेत्। पूर्णाहुतिं ततो दद्यात् तत्पूगमानयेत् सुधीः। स-यज्ञ-सूत्रं स-शिखं तत्पूगं प्रेषयेत् प्रिये! मूल-मन्त्रं जपेत् तत्र गजान्तक-सहस्रकं। ततश्च श्रावये-न्मन्त्रं कालिकायाश्च सुन्दरि! अथवा श्रावयेन्मन्त्रं तारायाश्च सुदुर्लभं। मूल-मन्त्रं समुच्चार्य पूगस्यापि प्रयत्नतः। भक्षणे तत्फलात् साक्षात् अन्तर्यज्ञोपवीत-वान्। भवत्येव न सन्देहो नरो नारायणः स्वयं।

बिल्व-दण्डं समानीय वंशस्यैकं समानयेत्। ततो दण्डे न्यसेन्न्यासान् कालिकायाः प्रयत्नतः। जीव-न्यासं ततः कृत्वा दण्डे देवीं विचिन्तयेत्। बिल्व-दण्डस्थ-

चैतन्यं वंश-दण्डे नियोजयेत् । इष्ट-देवी-स्वरूपेण दण्डोऽयं परमेश्वरि ! शिष्यस्य दक्षिणे हस्त दण्ड-स्थापनमाचरेत् । कमण्डलुं समानीय वारुणं प्रजपेत् सुधीः । वारुणीं निक्षिपेत् तत्र ततो मूल-मनुं जपेत् । अष्टोत्तर-शतं जप्त्वा तस्य वाम-करे न्यसेत् । गैरिकं कौपीनं वस्त्रं यत्नेन परिधापयेत् । दण्ड-धारण-मात्रेण नरो नारायणो भवेत् । अद्यावधि महा-मायां दण्डोपरि विभावय । कुरु पूजां महा-कालीं दण्डोपरि विभावयेत् । साक्षान्नारायणस्त्वं हि दया-धर्म-परो भव । तव माता पिता स्वामी सर्वं दण्डात्मिके स्थितं । सोऽनुपद्-गमनं गेहे गृहस्थस्य द्विजस्य च । नारायणं समाभाष्य द्वारे तस्य व्रजेत् सुधीः ।

इति श्रुत्वा गृहस्थस्तु पुटाञ्जलि-परो भवेत् । द्वारे च दण्डिनं दृष्ट्वा प्रणमेद् ब्राह्मणो वरः । भिक्षां दद्यात् प्रयत्नेन मधु मांसं विना प्रिये ! आदाय भिक्षां देवेशि ! चौर-वत् गमनं चरेत् । गृहस्थस्यालये चैव रात्रि-वासं च कारयेत् । तथा हि नगरं गत्वा त्रि-रात्रं वसतिं चरेत् । तीर्थ-भूमिं ततो गत्वा सप्ताहं वसतिं चरेत् । ब्राह्मणो दण्डिनं दृष्ट्वा प्रणमेद् विधि-पूर्वकं । तोय-पूर्णं च देवेशि ! किंवा शून्य-कमण्डलुं । दृष्टि-मात्रेण तत्पात्रं पूर्णं कुर्याद् द्विजोत्तमः । कुशाग्र-मानं यद्विन्दु

यदि दद्यात् कमण्डलौ। समुद्र-सप्त-दानस्य फलं स लभते ध्रुवं। दद्यादन्नं यो माहेन स भवेत् परमाश्रयः। त्रिंशद्वर्ष-सहस्राणि ऊषरे विटपो भवेत्। इति ते कथितं दण्डि-संन्यास-धारणं परं। न वक्तव्यं पशोरग्रे प्राणा-न्तेऽपि कदाचन।

॥ इति श्रीनिर्वाण-तन्त्रे संन्यास-विवरणं नाम त्रयोदशः पटलः ॥
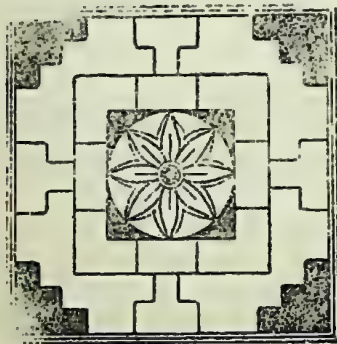
चतुर्दशः पटलः

चतुराश्रम-लक्षणम्

श्रीशङ्कर उवाच—श्रुणु देवि ! प्रवक्ष्यामि अवधूतो यथा भवेत् । वीरस्य मूर्तिं जानीयात् सदा तप-परायणः । यद्रूपं कथितं पूर्वं संन्यास-धारणं परं । तद्रूपं सर्व-कर्माणि प्रकुर्यात् वीर-वल्लभः । दण्डिनां मुण्डनं चैवामावास्यायां चरेद् यथा । तथा नैव प्रकुर्यात्तु वीरस्य मुण्डनं प्रिये ! अ-संस्कृत-केश-जाल-मुक्ता-लम्बित-मूर्द्धजः । अस्थि-माला-विभूषश्च रुद्राक्षान् वापि धारयेत् । दिगम्बरो वीरेन्द्रश्च अथवा कौपिनी भवेत् । रक्त-चन्दन-दिग्धाङ्गः कुर्यात् भस्म-विभूषणं । क्षमा-दानं तपो-ध्यानं बाल-भावेन शैलजे ! शिवोऽहं भैरवानन्दः स-मुण्डो कुल-नायकः । एवं भाव-परो मन्त्री हेतु-युक्तः सदा भवेत् । सम्विदा-सेवनं कुर्यात् सदा कारण-सेवनं । भवेत् साक्षात् स पुरुषः शम्भु-रूपो न संशयः ।

निर्वाण-मुक्तिमाप्नोति ब्राह्मणो वीर-भावतः । अवधूत-क्षत्रियश्च सहयोगी न संशयः । स्वरूपोऽपि भवेत् वैश्यः शूद्रोऽपि सह-लोकवान् । सम्पूर्ण-फलमा-

प्नोति विप्रो निर्वाणतां व्रजेत् । त्रिभाग-फलमाप्नोति क्षत्रियो वीर-भावतः । पाद-द्वयस्य वैश्यस्य शूद्रस्य चैक-पादकं । ब्राह्मणस्य विनाऽन्यस्य संन्यासो नास्ति चण्डिके ! कुर्यान्मोहेन चान्यत्र सैव पापाश्रयो नरः ।

गुप्त-भावेन देवेशि ! श्रुणु मत्प्राण-वल्लभे । संन्यासिना सदा सेव्यं पञ्च-तत्त्वं वरानने ! द्वादशाब्दस्य मध्ये च यदि मृत्युर्न जायते । दण्डं तोये विनिक्षिप्य भवेत् परम-हंसकः । अवधूताचार-रतः हंसः परम-पूर्वकः । सैव सानन्द-विख्याता द्वादशाब्दे सरस्वती ।

अवधूतस्य चाख्यानं श्रुणुष्व पर्वतात्मजे ! वनेऽरण्ये प्रान्तरे च गिरौ च पुर एव च । एक-स्थाने च संस्थाय इष्ट-ध्यानादिकं चरेत् । यो मन्त्र-दान-तत्प्राज्ञः शरणं परिकीर्तितः । श्रेष्ठ-केशो जटा-जूटः सदात्म-वत् समाचरेत् । अन्तर्यामी महावीरो ह्यवध्यः स च शैलजे ! नाना-शास्त्रेषु यो विज्ञो नाना-कर्म-विशारदः । सदेष्ट-देवी-भावेन भावयेद् यो हि चाबलाम् । स एव भारते वीरो महा-ज्ञानी जितेन्द्रियः ।

ऊर्ध्व-बाहुः सदा वीरो मुक्त-केशो दिगम्बरः । सर्वत्र सम-भावो यः स च नरोत्तमो भवेत् । नाना-देशेषु पीठेषु क्षेत्रेषु तीर्थ-भूमिषु । भ्रमणं कुरुते नित्यं कुर्याद् यत्नेन पूजनम् । देवतायाः सदा ध्यानं श्रीगुरोः

पूजनं तथा। अन्तर्यागेषु यो निष्ठः स वीरः परिकीर्तितः।

अवधूताश्रमे देवि! यस्य भक्तिश्च निश्चला। तस्य तुष्टा भवेत् काली किं न सिद्ध्यति भूतले। अवधूतं समालोक्य शम्भुं ज्ञात्वा तु पूजयेत्। शक्तितः पञ्च-तत्त्वानि यत्नेनैव निवेदयेत्। अशक्तः परमेशानि! भक्तितः परितोषयेत्। अवश्यं पूजयेद् वीरं गृहस्थः साधु-रूपकः। यो नार्चयति तं वीरं स भवेदापदाश्रयः।

ब्रह्मचर्यं प्रवक्ष्यामि शृणु देवि! समाहिता। यस्याचरण-मात्रेण नरो नारायणो भवेत्। गैरिकं वसनं कुर्याद् देवता-ध्यान-तत्परः। फल-मूलाहार-रतो दुग्धं गव्यं समाहरेत्। शाल्युद्भवं न गृह्णीयात् शूद्रानीतं तथा जलं। ऋतु-कालं विना नैव स्व-कान्ता-गमनं चरेत्। गृहस्थोऽपि महेशानि! ब्रह्मचारी सदा गुरुः। उदासीनः कदाचिद् वै गुरु-कर्माधिपो भवेत्। तस्य शिष्यस्य कल्याणं कदाचिन्नास्ति चण्डिके! नख-लोमादिकं देवि! न त्याज्यं ब्रह्मचारिणे। सर्वत्रैव दया-भावं सदैव ध्यान-तत्परः। त्रिशूलं धारयेच्चैकं त्रिशिखं वापि धारयेत्। ताम्र-युक्तं च रुद्राक्षं कर्ण-युग्मे निवेशयेत्। यद्देशे विद्यते देवि! ब्रह्मचारी तपो-

धनः। तद्देशे च स्थिरा लक्ष्मीर्जायते नात्र संशयः।

अथ वक्ष्ये गृहस्थस्य लक्षणं शृणु चण्डिके ! पाठो होमश्चातिथीनां सेवनं देव-पूजनम्। पितृ-श्राद्धं कुलाचारं तत्व-ज्ञानं सदाचरेत्। निज-कान्ता सदा पूज्या निज-कान्ता हि देवता। मानसं पूजनं कुर्यात् ततः स जपमाचरेत्। मानसो हि महा-धर्मो मानसे नास्ति पातकम्। सर्वेषां पितृ-रूपोऽसौ गृहस्थः साधु-रूपकः। सदाचार-रतः श्रीमान् सदा यज्ञ-परायणः। स्थापयेत् पञ्च-तत्त्वानि गेह-मध्ये प्रयत्नतः। तदैव सर्व-सिद्धीशो भवत्येव न संशयः। यस्मिन्मन्त्रे विचारोऽपि सिद्धारि-गण-दूषणम्। तत्तत् सर्वं महेशानि ! गृहस्थस्य सुनिश्चितम्। सुविचार्य महा-मन्त्रं गृह्णीयात् साधकोत्तमः। एकाक्षरे तथा कूटे माला-मुद्रादि-वैदिके। विचारो नास्ति देवेशि ! स्वप्न-लब्धे तथैव च। तथापि च गृहस्थस्य सुविचार्यो महा-मनुः। दण्डिनो दूषणं नास्ति सर्व-मन्त्रस्य दीक्षणे। गृहस्थाश्रममासाद्य तत्त्व-ज्ञानेषु योगतः। स मुक्तः सर्व-पापेभ्यः स च साक्षान्महेश्वरः। अन्न-दानेन यत् पुण्यं तोय-दानेन यत् फलम्। तत्तत् सर्वं गृहस्थस्य नाना-फलमवाप्नुयात्। इति ते कथितं कान्ते ! चतुराश्रम-लक्षणं। न वक्तव्यं पशोरग्रे प्राणान्तेषु सुरेश्वरि ॥

॥ इति श्रीनिर्वाण-तन्त्रे चण्डिका-शङ्कर-सम्वादे चतुर्दशः पटलः समाप्तः ॥

पञ्चदशः पटलः

शिवार्चन-विधानम्

श्रीदेव्युवाच—त्वत्प्रसादाद् महादेव ! पवित्राहं न चान्यथा। शम्भु-नाथार्चनं देव ! श्रोतुमिच्छामि साम्प्रतम् ।

श्रीशङ्कर उवाच—शृणु पार्वति ! वक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि। नकुलीशं समुद्धृत्य मनु-स्वर-विभूषितम् । बिन्दु-नाद-कला-युक्तं प्रदास्यं महा-मनुम् । वारुणमर्ध-वृत्तं च वायु-ललाट-संयुतम् । ध्येयं पञ्चाक्षरं मन्त्रं पञ्चाम्नाय-फल-प्रदम् । प्रणवादि यदा देवि ! तदा मन्त्रं षडक्षरम् । प्रासादाख्यं समुद्धृत्य अर्ध-नारीश्वराय च । पूर्ण-प्रासादमुद्धृत्य मन्त्रं परम-गोपनम् ।

एवं बहु-विधाकारं विग्रहं मेनकात्मजे ! कण्ठे तु गरलं देवि ! नरो नो भावयेत् क्वचित् । यदीच्छेदात्मनो मृत्युं यदि उन्मत्तमिच्छति । तदेव सहसा देवि ! नीलकण्ठमुपास्महे । त्वर-दृष्टं च मां देवि ! नीलकण्ठ-स्तवादिकम् । करोति कारयेद् वापि मम हत्यां करोति सः। अतएव महेशानि ! स पापिष्ठो न चान्यथा । निषिद्धाचरणं पापं करोति यदि मानवः । पुत्र-दारा-

धनं तस्य नाशयामि न संशयः। कण्ठं तु गरलं देवि ! यदि पूजा-परो भवेत्। इह लोके दरिद्रः स्यान्मृते सूकरतां व्रजेत्। पौराणिकं तान्त्रिकं वा न पठेन्मम सन्निधौ। नीलकण्ठस्य यन्मन्त्रं यदि कुर्यात् पुरस्क्रियाम्। लक्षान्तरे तु देवेशि ! तस्य मृत्युर्न चान्यथा।

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि पार्थिवं शिव-पूजनम्। तत्रादौ परमेशानि ! गुरुदेवं नमेत् पुनः। नमो हराय नमस्कारं मृत्तिकामाहरेत् सुधीः। महेश्वराय नमस्कारं लिङ्गं निर्माय यत्नतः। शूलपाणे इहोच्चार्य सुप्रतिष्ठितो भव। अनेन मनुना देवि ! जीव-न्यासं समाचरेत्। सकारं बिन्दु-रूपं च दीर्घ-युक्तं षडक्षरम्। अस्य ध्यानं प्रवक्ष्यामि शृणुष्व सुसमाहिता।

ध्यायेन्नित्यं महेशमित्यादि।

पुष्पं शिरसि सन्धार्य मानसैः पूजनं चरेत्। पुनर्ध्यात्वा महेशानि ! शिवे पुष्पं निवेदयेत्। पिनाकधृगिति चोच्चार्य इहागच्छ द्विधा वदेत्। इह तिष्ठ ततो द्वन्द्वं सन्निधेहि द्वयमिह। इह सन्निहितो रुन्धस्व-शब्दं ततो वदेत्। यावत् पूजां समुच्चार्य ततश्चैव करोम्यहम्। स्नानीयं च पशु-पति नियतं च नमश्चरेत्। वेदाद्यं योजयेद् देवि ! ब्राह्मणः साधकोत्तमः। एतत् पाद्यं महेशानि ! षडक्षर-मनुं ततः। नमस्कारं समुच्चार्य सर्वं

दद्याद् विचक्षणः । क्षितिं जलं तथा चाग्निं वायुं चाकाशमेव च । यजमानं च सोमं च सूर्यं च मूर्तिना सह । सर्वत्र नियुतं कृत्वा पूजयेत् साधकोत्तमः । प्रणवादि-नमोऽन्तेन वामावर्तेन पूजयेत् । मूर्तयोऽष्टौ शिवस्यैताः पूर्वादि-क्रम-योगतः । आग्नेयान्ताः प्रपूज्यास्ता वेद्यां लिङ्गे शिवं जपेत् ।

अष्टोत्तर-शतं सहस्रं वा शतं वा प्रजपेत् ततः । गुह्याति-गुह्य-गोप्ता त्वं गृहाणास्मत्-कृतं जपम् । सिद्धिर्भवतु मे देव ! त्वत्-प्रसादाद् मयि स्थिते । ततः स्तोत्रं समादाय जपं चैव समर्पयेत् । मुख-वाद्यं ततः कृत्वा चाष्टाङ्गैः प्रणमेत् सुधीः । संहारेण महादेव ! क्षमस्वेति विसर्जनम् ।

एवं पूजा प्रकर्तव्या शक्ति-मन्त्रान् जपेद् यदि । स शैव इति विख्यातः सर्व-तन्त्रेश्वरो भवेत् ।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि सूत्रं परम-गोपनम् । हरो महेश्वरश्चैव शूल-पाणिः पिनाक-धृक् । पशु-पतिः शिवश्चैव महा-देवेति तत्-क्रमात् । अष्टमूर्तिस्ततो देवि ! पूजयेत् साधकोत्तमः । ततो जपेद् महेशानि ! शङ्ख-वाद्यं ततः परम् । एतदन्यं प्रकर्तव्यं शक्ति-दीक्षा-परो यदि ।

निषिद्धाचरणाद् देवि ! पाप-भाग् जायते नरः ।

न्यूनाधिकं महेशानि ! यदि पूजादिकं चरेत् । सद्गुरुश्चापि शिष्यश्च शिव-हत्यां प्रयच्छति । न्यूनाधिकं महेशानि ! यदि चैकाक्षरं भवेत् । वर्ण-संख्या महेशानि ! ब्रह्म-हत्या भविष्यति । अतएव स पापिष्ठः सत्यं सत्यं सुरेश्वरि !

एवं पूजां विधायादौ ततश्चान्यं प्रपूजयेत् । आदौ शिवं पूजयित्वा शक्ति-पूजा ततः परम् । यत्-किञ्चिदुपचारं हि तस्य किञ्चिद् निवेदयेत् । अन्यथा मूत्र-वत् सर्वं गङ्गा-तोयं भवेद् यदि । अतएव महेशानि ! आदौ लिङ्गं प्रपूजयेत् । शिव-स्नानोदकं देवि ! मूर्ध्नि सन्धारयेद् यदि । सत्यं सत्यं महेशानि ! शिव-तुल्यो न संशयः । शिव-रूपः स्वयं भूत्वा देवि ! पूजां समाचरेत् ।

शैव-वैष्णव-दुर्गार्क-गाणपत्येन्द्र-सम्भवान् । आदौ शिवं पूजयित्वा पश्चादन्यं प्रपूजयेत् । आदौ लिङ्गं पूजयित्वा यदि चान्यं प्रपूजयेत् । तत्फलं कोटि-गुणितं सत्यं सत्यं न संशयः । अन्य-देवं पूजयित्वा शिवं पश्चाद् यजेद् यदि । तस्य पूजा-फलं सर्वं भुज्यते यक्ष-राक्षसैः । इति ते कथितं कान्ते ! तन्त्राणां सारमुत्तमम् । बहु किं कथ्यते देवि ! भूयः किं श्रोतुमिच्छसि ।

इति श्रीनिर्वाण-तन्त्रे चण्डिका-शिव-सम्वादे

पञ्चदशः पटलः सम्पूर्णः ।